निवेदन

हमारी भाषा के साहित्य में जो सामग्री है वह तो हमारी सम्पत्ति है ही, यदि दूसरी भाषाओं की विशेष सामग्री भी हमारी भाषा में आकर अपनी हो जाय तो क्या यह थोड़े गौरव की बात है ? क्या इससे कम उपकार की आशा है ?

इसी उद्देश की पूर्ति के लिए, अनुवाद के रूप में भिन्न भिन्न भाषाएँ परस्पर भावों का आदान–प्रदान किया करती हैं ।

हमारी भाषा में तो इसकी और भी अधिक आवश्यकता है, क्योंकि वह राष्ट्र-भाषा होने का दावा रखती है । उसमें सारे राष्ट्र के भावों का सन्निवेश होना ही चाहिए ।

पलासी के युद्ध का सम्बन्ध तो हमारे राष्ट्र से ही विशेष है । हमारी हीनावस्था में, जिस जाति ने, ईश्वर की प्रेरणा से, यहाँ आकर हमें सँभाला, यह उसी की हमें याद दिलाता है और पूर्व और पश्चिम के प्रारम्भिक सम्मिलन का सन्देश सुनाता है ।

इसी कारण इतिहास के बन्धन की परवा न करके बंगीय कविवर बाबू नवीनचन्द्र सेन ने इसे अपने काव्य का विषय बनाया । यद्यपि उनका मार्ग संकीर्ण था परन्तु फिर भी वे सफलता पूर्वक उस पर चलने में समर्थ हुए हैं । यह सच है कि काव्य कभी इतिहास नहीं हो सकता । परन्तु "पलासी का युद्ध" इतिहास से विशेष सम्बन्ध रखता है । इसमें इतिहास सम्बन्धिनी भूलें हो सकती हैं, परन्तु कवि-कौशल की कमी नहीं ।

लेखक बरसों से इसे हिन्दी में देखना चाहता था । किन्तु उसकी आशा पूरी न हुई । इस कारण विवश होकर उसे ही अपनी स्वल्प शक्ति के अनुसार यह साहस करना पड़ा । विद्वज्जन कृपा पूर्वक क्षमा करें ।

किसी भाषा के भाव अन्यभाषा में यथायथ व्यक्त करना कितना कठिन कार्य्य है, इसे भुक्तभोगी ही जान सकते हैं। किसी काव्य-ग्रन्थ का अनुवाद करना तो और भी कठिन है। कभी कभी तो वह असाध्य ही है। क्योंकि कविता में बहुधा साभिप्राय पद रहते हैं। एक शब्द का एक स्थान में एक साधारण अर्थ रहता है, एक विशेष। पर अन्य भाषा में उसके लिए उपयुक्त शब्द मिलना कठिन हो जाता है। यद्यपि हमारी भाषाओं का सम्बन्ध संस्कृत से होने के कारण यह कठिनता थोड़ी बहुत कम हो जाती है, पर दूर नहीं हो सकती। बिहारी का एक दोहा है:—

"अजों तरौना ही रह्यो श्रुति सेवत इक अंग।
नाक-वास बेसर लह्यो बसि मुक्तन के संग॥"

इसमें तरौना, श्रुति, नाक, बेसर और मुक्तन ये सब श्लिष्ट शब्द हैं। जिन भाषाओं का प्रत्यक्ष सम्बन्ध संस्कृत से नहीं है उनमें तो इसका अनुवाद हो ही क्या सकता है, हमारी अन्य प्रान्तिक भाषाओं में भी उसका होना कठिन है। यह ठीक है कि इस प्रकार की बाधाएँ बहुत नहीं होतीं, पर जो दूर न की जा सकें वे थोड़ी और बहुत, दोनों ही बराबर हैं।

सौभाग्य की बात है कि प्रस्तुत पुस्तक के अनुवाद में ऐसी बाधाओं का सामना नहीं करना पड़ा। पड़ता भी तो लेखक हताश न होता। क्योंकि जो बिहारी की कविता पर मुग्ध होकर उसका अनुवाद करना चाहेगा, वह क्या उक्त दोहे को देखकर अन्य सैकड़ों दोहों के रस से भी अपनी भाषा के साहित्य को वञ्चित रखना उचित समझेगा? कभी नहीं।

किन्तु कठिनाई फिर भी कम नहीं होती। पद्य में तो वह और भी बढ़ जाती है। गद्य में विस्तार पूर्वक व्याख्या और विवरण आदि देकर भी काम चलाया जा सकता है। परन्तु पद्य में ऐसा नहीं किया जा सकता। उसकी पंक्तियाँ नपीतुली होती हैं। इसके सिवा शब्द-स्थापना के नियमों का बन्धन, श्रुति और अनुप्रास आदि अनेक बन्धन उसमें रहते हैं।

विशेष विस्तार की गुंजाइश भी उसमें नहीं होती। वैसा करने में सजीवता जाती रहने का डर रहता है। गठन ही उसका विशेष गुण होता है। प्रणाली भी उसकी गद्य से भिन्न होती है। इन सब कारणों से बड़े बड़े उपाधिधारी और योग्य जन भी बहुधा इस प्रयत्न में पूर्णतया सफलता प्राप्त करने में समर्थ नहीं होते! फिर एक अज्ञ जन की कौन गिनती? प्रयत्न करना उसके हाथ है, सफलता उसके वश की बात नहीं।

मूल पुस्तक में दस दस पंक्तियों का एक एक पद्य माना गया है। पर यह नाम मात्र के लिए। विषय पूरा होने से रहा, कहीं कहीं वाक्य भी पूरा नहीं हो पाया और पद्य पूरा हो गया है। इस लिए अनुवाद में पद्यों के गणना-क्रम को बनाये रखने की आवश्यकता नहीं समझी गई। धारावाहिक रूप में ही वर्णन उचित समझा गया। कहीं दस पंक्तियों का आशय दस पंक्तियों में ही आया है तो कहीं कहीं आठ और छः पंक्तियों में ही आ गया है। इस लिए मूल पद्यों की पंक्ति-संख्या पूरी करने के लिए व्यर्थ वाग्विलास करना उचित न होता। मूल की तरह अनुवाद में भी, जितनी पंक्तियों का चाहिए उतनी पंक्तियों का एक पद्य इच्छानुसार मान लिया जा सकता है। ऐसा करने में कोई बाधा नहीं पड़ सकती। मूल में प्रत्येक पद्य की पहली आठ पंक्तियों का अन्त्यानुप्रास विषम रूप से रक्खा गया है और अन्त की दो पंक्तियों में सम रूप से। अनुवाद में यह सर्वत्र सम रूप से ही रक्खा गया है। चौथे सर्ग में कुछ पद्य कवि ने चार चार पंक्तियों के रक्खे हैं और उनका वृत्त और क्रम भी भिन्न रक्खा है। अनुवाद में भी वैसा ही किया गया है। हिन्दी में उस ढंग का कोई छन्द प्रचलित न होने के कारण मूल के अनुरूप दो छन्दों के मेल से एक नया छन्द गढ़ लिया गया है। इस स्थल को छोड़कर मूल के सब सर्गों में एक ही छन्द प्रयुक्त हुआ है, पर अनुवाद में वह प्रत्येक सर्ग में बदल दिया गया है। आशा है, यह क्रम पाठकों को रुचिकर ही होगा।

समय की गति के अनुसार अनुवाद की भाषा बोलचाल की रक्खी गई है

उसकी सरलता अथवा क्लिष्टता पढ़ने वालों की विज्ञता पर अवलम्बित है। पर इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि कविता में चन्द्रमा सर्वत्र चन्द्र या चाँद नहीं कहा जा सकता। कहीं शशि, कहीं सुधांशु, कहीं कलाधर और कहीं उसे द्विजराज कहने की भी आवश्यकता पड़ती है। अतएव कविता के प्रेमियों के लिए थोड़े बहुत पर्याय शब्दों का जानना अनिवार्य है।

जहाँ तक हो सका, मूल के भावों की रक्षा का प्रयत्न किया गया है। शब्दों का अनुवाद करने की अपेक्षा भाव पर अधिक ध्यान दिया गया है। यथा सम्भव थोड़े में आशय प्रकट करने की चेष्टा की गई है। ऐसा करने में यदि कुछ साधारण शब्द रह गये हैं तो उनके लिए व्यर्थ विस्तार करना उचित नहीं समझा गया। बात को बढ़ा कर कहना नवीन बाबू की कविता का एक विशेष लक्षण है। इससे कहीं कहीं कौतूहल होता है तो कहीं कहीं उपराम भी। एक उदाहरण लीजिए। पहले सर्ग में जगतसेठ कहता है:—

"एकटि कण्टक कभू फूटे नि जे पाय
से केन ना हासिवेक देखि शेलाघात
चिदरे हृदय जार से करे रोदन
जे जाने अस्त्रेर लेखा व्यथाओ तथाय
जाहार हृदये शेल से जाने केमन
परेर केवल मात्र लौकिक रोदन"

जिस पर बीतती है वही जानता है, इसी एक बातको देखिए, थोड़े थोड़े भेद से कवि ने कितने बार कहा है। लेखक ने इसके अनुवाद के लिए एक पंक्ति ही अपर्याप्त नहीं समझी:—

किं वा वही जानता है लगता जिसे है घाव

यदि पाठकों की राय में यह अनुचित हो तो उसमें भी उसे आपत्ति नहीं:—

फटी न बिंवाई जिसे जाने क्या पराई पीर ?
एक का है लक्ष्य होता अन्य के हिये का तीर !

और लीजिए:—

सालता उसी को है लगता जिसे है शेल,
दूसरों का रोदन है लोकाचार वाला खेल ।

पहले ही सर्ग में एक जगह लिखा है:—

"शार्दूल कवल गत किं वा नाग पाशे
बद्ध येइ जन हाय ! भीषण वेष्टने
निरापद, वसि येन आपनार आवासे
भावे से यद्यपि मने तवे ए संसारे
ततोधिक मूर्ख आर वलिब काहारे ?"

इन पाँच पंक्तियों का अनुवाद निम्नलिखित दो पंक्तियों में किया गया है:—

सोचे, घर बैठा हूँ—जो व्याघ्र-मुख में पड़ा,
होगा कहाँ कौन भला मूर्ख उससे बड़ा ?

यद्यपि शब्द थोड़े हैं पर आवश्यक आशय आगया है। पड़ा और बैठा ये दो परस्पर विरोधी पद लाये गये हैं। नागपाश की बात ज़रूर छूट गई है, पर व्याघ्र-मुख ही से उसका मतलब निकल गया है। फिर भी, यदि यह त्रुटि समझी जाय तो पाठक सर्वत्र ऐसी त्रुटियाँ न पावेंगे। यह तो कैसे कहा जाय कि कहीं कहीं वे मूल से भी कुछ अधिक पावेंगे ? तथापि जो कुछ किया है उसे कह देना ही उचित है। कमख़ाब में गाढ़े की गोट की तरह ऊपर से जोड़ी हुई पंक्तियाँ स्वयं ही अलग मालूम हो जायँगी। फिर भी, दो एक स्थलों का उल्लेख किया जाता है। दूसरे सर्ग में ब्रिटिश सैनिकों का वर्णन है:—

"—कभू अस्त्र करे,
कभू स्कन्धे—"

अनुवाद—

कभी करों में अस्त्र कभी कन्धों पर रखते,

इसके बाद यह पंक्ति अपनी ओर से मिला दी गई है-

कभी घूमते, कभी साधकर लक्ष्य निरखते।

क्लाइव से ब्रिटिश राजलक्ष्मी अपने अन्तिम उपदेश में ईश्वर की ओर संकेत करती हुई कहती है:-

"सम भावे सर्व देशे श्वेत ओ श्यामले,
वर्षे ताहार मेघ बाचाय पवने"

इसका अनुवाद—

सब देशों में साम्यभाव से सित-श्यामल पर,
करते हैं जल-वृष्टि घूम कर उनके जलधर।
सबको उनकी वायु जिलाती है समता से,
करती उनकी आग दग्ध भी अविषमता से।

कहने की आवश्यकता नहीं कि इसमें चौथी पंक्ति मूल से अधिक है। ब्रिटिश राजलक्ष्मी इसके पूर्व ईश्वर को दयालु और अपक्षपाती के साथ ही साथ न्यायी और अति भयंकर भी बता चुकी है। किन्तु उदाहरण प्रायः उसकी दयालुता और अपक्षपातिता के ही दिये गये हैं। कैसे कहा जाय कि यह पंक्ति इस अभाव की अंशतः पूर्ति करने में समर्थ हो सकेगी?

पाँचवें सर्ग में, जब सिराजुद्दौला की बेगमों के डुबाये जाने का वर्णन आता है तब डूबते समय उन्होंने जो शाप दिया था उसका उल्लेख इस तरह किया गया है:-

"बिना मेघे वज्राघाते मरिबे मिरण"

अनुवाद—

बिना मेघ के वज्रपात से मीरन मारा जायगा,

इसके बाद यह पंक्ति जोड़ दी गई है:-

अधम मीरजाफ़र भी सत्वर पूरा प्रतिफल पायगा।

असल में बेगमों ने डूबते समय मीर जाफ़र को भी शाप दिया थ कि वह शीघ्र राज्यच्युत होगा।

कहीं कहीं एक आध उपमा भी अपनी ओर से जोड़ दी गई है जैसे सिराजुद्दौला अपने भविष्य की चिन्ता करता हुआ कहता है:-

"या हवे आमार हवे, तादेर कि भय?"

इसका अनुवाद—

मेरा जो हो, हो, उन्हें कौन सी शंका?

इसके बाद यह पंक्ति जोड़ दी गई है—

कुटियों को क्या, जल जाय जले जो लंका!

कारागार में अँगरेज़ों के हिप हिप हुर्रे की हर्षध्वनि सुनकर नवाब की चिन्ताभिभूत वेगम का चौंकना इस प्रकार कहा गया है—

"—तन्द्रा भाँगिले अमनि
जागिल सन्त्रासे वामा"

इसके अनुवाद में नवाव-महिषी के चौंकने पर एक उत्प्रेक्षा कर दी गई है—

तन्द्रा टूटी, चौंक उठी वह भय से यथा कुरंगिनी।

कहीं कहीं कवि की उक्तियों पर विशेषण के तौर पर भी कुछ कह दिया गया है। जैसे यदि कवि ने ब्रिटिश राजलक्ष्मी के बालों को 'विमुक्त' कहा तो उनके मन्द पवन के साथ खेलने की बात भी कह दी गई है:-

कच कुञ्चित,
खेल रहे थे मन्दपवन से बन्धविमुञ्चित।

कहीं कहीं कवि की बात दूसरे प्रकार से भी कह दी गई है। जैसे—

"सुमेरु सिन्धुर जले दिव विसर्जन"

इसका अनुवाद इस तरह किया गया है—

सोने के सुमेरु को भी धूल में मिलाऊँगा।

लेखक की राय में, हिन्दी के महाविरे के ख़याल से, सिन्धु में

विसर्जन करने के बदले सुमेरु पर्वत को धूल में मिलाने की बात अधिक अच्छी है। सम्भव है, न भी हो, पर उद्देश बुरा नहीं।

सिराजुद्दौला के शिविर में नृत्य-गान हो रहा है, इतने में अँगरेजों की तोप का गर्जन सुनाई दिया उसे सुनते ही–

"नर्तकी अर्द्धेक नाचे थामिल अमनि"

इसका मतलब होता है कि नर्तकी आधे नाच में ही फौरन ठहर गई। इसका अनुवाद यह किया गया है:—

सम बिना, सहम तत्काल नर्तकी ठहरी।

"अर्द्धेक नाचे" का शब्दानुवाद करने की अपेक्षा, सम के बिना सहम कर नर्तकी का ठहर जाना हिन्दी में बामुहाविरा होगा।

कहीं कहीं कवि के आशय का उपयोग दूसरे ढंग से भी किया गया है। ब्रिटिश राजलक्ष्मी के वर्णन में कवि ने लिखा है—

"तुषार उरस, स्वच्छ स्फटिक आकार"

इसका अनुवाद इस प्रकार किया गया है:--

गलता था हिम हृदय देख के स्फटिक चूर्ण था।

उपमाएँ वही हैं पर उनके प्रयोग की प्रणाली भिन्न है। चौथे सर्ग के आरम्भ की दो पंक्तियाँ इस तरह हैं:–

"पोहाइल विभावरी पलासी प्रांगणे,
पोहाइल यवनेर सुखेर रजनी।"

इनका अनुवाद भी अपने ढंग से दूसरी तरह किया गया है:–

करके यवन जनों के सुख की निशि का निपट निपात,
हुआ पलासी के प्रांगण में मानों नया प्रभात।

एक समालोचक की राय में नवीन बाबू की सायंकाल वर्णनाविषयक निम्नलिखित पंक्तियाँ बहुत-ही उत्कृष्ट हैं:–

"शोभि छे एकटि रवि पश्चिम गगने,
भासि छे सहस्र रवि जान्हवी जीवने।"

इसका अनुवाद इस तरह किया गया है:—

शोभित दिनमणि एक प्रतीची के अञ्चल में,
सौ सौ दिनमणि झलक रहे हैं गंगाजल में।

इसमें पश्चिम की जगह प्रतीची और गगन की जगह अञ्चल शब्द का प्रयोग किया गया है। रवि के स्थान में दिनमणि भी लाया गया है। क्यों? पाठकों से प्रार्थना है कि वे कृपाकर इसके लिए कैफ़ियत तलब न करें। रुचि ही तो है। यदि उन्हें यह रुचिकर न हो तो लेखक इसके दूसरे संस्करण के समय—यदि वह आया तो—जिस तरह उनकी अन्यान्य सूचनाओं का आदर करने के लिए प्रस्तुत है उसी तरह इसे भी मूल के अनुकूल बना देने के लिए तैयार है:—

शोभित है रवि रम्य एक पश्चिमी गगन में,
झलक रहे रवि अयुत जान्हवी के जीवन में।

एक आध स्थान में ऐसा भी हुआ है कि मूल के अर्थ का द्योतक कोई शब्द लेखक को नहीं मिला। जैसे तीसरे सर्ग में गवाक्ष से सिराजुद्दौला शत्रु-शिविर का प्रकाश देख रहा है—

"देखिल अनति दूरे अन्धकार हरि
ज्वालि छे शत्रु आलो आलेयार प्राय"

इसका अनुवाद करने में आलेया के लिए कोई ख़ास शब्द नहीं मिला। रात को, जंगल में, कहीं कहीं जो गैस या वाष्प विशेष जलता हुआ दिखाई देता है, उसे बँगला में आलेया कहते हैं। अँगरेज़ी में इसको Ignisfatuus कहते हैं। लेखक की देहात में इसे भूत की आग कहते हैं। लाचार होकर उसी को रखना पड़ा—

देखा तब उसने अनति दूर हर कर तम,
रिपु का प्रकाश प्रज्वलित प्रेत-पावक-सम।

पण्डित मथुराप्रसाद की प्रसिद्ध डिक्शनरी में भी Ignisfatuus का अर्थ मिथ्या-दीप्ति और मिथ्याग्नि के साथ पिशाचदीपिका लिखा है।

पर कहा नहीं जा सकता कि विवरण के बिना इन शब्दों से यथार्थ आशय समझा जाता या नहीं।

इस पुस्तक में दो चार स्थलों पर कुछ ऐतिहासिक संकेत पाये जाते हैं। खेद है, उनका विवरण न मिल सकने के कारण इस संस्करण में नहीं दिया जा सका।

अनुवाद सम्बन्धिनी दो एक त्रुटियाँ स्वयं लेखक को खटक रही हैं। जैसे पाँचवें सर्ग में विकृत चित्त बन्दी सिराजुद्दौला जब स्वप्न में विभीषिका मय अग्नि के ज्वालोर्मिमाली समुद्र में अपने आपको गिरता हुआ देखता है तब एकाएक चिल्लाकर उठ बैठता है। उसी समय हाथ में तलवार और दीपक किंवा मशाल लिये हुए मुहम्मदीबेग उसकी कोठरी में प्रवेश करता है। घबराया हुआ नवाब उसे मूर्तिमान 'शमन' समझ कर फिर चिल्ला कर गिर पड़ता है। कवि ने लिखा है:—

"उठिल अभागा घोर करिया चीत्कार
कच्चे आलो, असि करे सम्मुखे शमन
चीत्कार करिया पुनः हइल पतन"

इसका अनुवाद—

अकस्मात चिल्लाकर हत विधि
हुआ काँप कर उठ खड़ा।
किन्तु देख असिधर यम सम्मुख
फिर चिल्ला कर गिर पड़ा॥

इसमें 'कच्चे आलो' का अनुवाद रह गया है। उससे सूचित होता है कि बेचारा नवाब अँधेरे क़ैदख़ाने में क़ैद था। उससे 'असि करे शमन' की भयंकरता भी बढ़ जाती है। वह उस भीषण रेखा-चित्र में रंग का काम करता है। यह बात नहीं कि यह त्रुटि अपरिहार्य थी—

हृदय धड़कने लगा वेग से
फिरने से ज्यों साँप के,

अकस्मात चिल्लाकर हतविधि
उठ बैठा तब काँप के
किन्तु देख आलोक कक्ष में,
आगे असिधर यम खड़ा,
चिल्लाकर फिर वहीं अभागा
मृत प्राय सा गिर पड़ा।

परन्तु फिर भी मनुष्य के काम कभी त्रुटि विहीन हो सकते हैं?

जो हो, यदि लेखक ने यह त्रुटि पूर्ण और नीरस अनुवाद करके अक्षम्य अपराध किया है तो उसने सर्वसाधारण के सामने उसका निदर्शन करके उसकी मात्रा अधिक नहीं बढ़ने दी। इस पर भी सर्वसाधारण को उसके विचार करने का अधिकार है और वह उनके निर्णय पूर्ण न्याय-निदेश के अनुसार अपने कृत-कर्म्म का प्रतिफल पाने के लिए तैयार।

विनीत—

अनुवादक।

कविवर नवीनचन्द्र सेन का

संक्षिप्त जीवनचरित

वंग-कवि-कुल-कोकिल बाबू नवीनचन्द्र सेन, बी. ए., वंगभाषा के प्रसिद्ध कवि थे। उन्होंने सब मिला कर कोई दस बारह उत्तमोत्तम काव्य-ग्रन्थों की रचना की है। उनकी कविता बड़ी ही मधुर, मनोहारिणी, सरस और उच्च भावपूर्ण होती थी। वंगदेश में उसका बड़ा आदर है। कहते हैं, बंगाल में जितने महाकवि हुए हैं, नवीनचन्द्र की उन्हीं में गिनती थी। शोक की बात है कि २३ जनवरी, १९०९ में, ६२ वर्ष की उम्र में, उनका देहान्त हो गया। आज हम उनका संक्षिप्त चरित पाठकों की भेंट करते हैं।

पूर्वपुरुष और जन्म।

बाबू नवीनचन्द्र वैद्य जाति के थे। उनकी जातिगत उपाधि सेन और नवाबदत्त उपाधि राय थी। उनके पूर्वज राढ़ देश के निवासी थे। महा-राष्ट्रविप्लव के समय वे अपना देश छोड़कर चटगाँव के नयापाड़ा गाँव में आ बसे थे।

बाबू नवीनचन्द्र का जन्म १८४६ ईसवी में, इसी गाँव में हुआ था। उनके पिता का नाम गोपीमोहन राय था और माता का नाम राजराजेश्वरी। बाबू गोपीमोहन राय चटगाँव के जज की अदालत में पेशकार थे। कुछ दिनों बाद नौकरी छोड़कर वकालत करने लगे थे। मरने के कुछ वर्ष पहले वे मुंसिफ़ हो गये थे। वे बड़े ही लोकप्रिय, धर्म्मनिष्ठ, दयालु और दानी थे। इसीसे अक्सर ऋणग्रस्त रहते थे। कविता रचने और गाने-बजाने का भी उन्हें शौक़ था। नवीनचन्द्र के जन्म के तीसरे दिन उत्सव की तैयारी हो रही थी कि घर में आग लग गई। फल यह हुआ कि केवल उन्हीं का घर नहीं किन्तु सारा गाँव भस्मीभूत हो गया। यह

देखकर कि नवीनचन्द्र की बदौलत प्राचीन गाँव नष्ट होकर नवीन हो गया है, उनके कुलगुरु की पत्नी ने उनका नाम नवीनचन्द्र रक्खा।

बाल्यकाल और शिक्षा

बालक नवीनचन्द्र सेन यथा समय गाँव की पाठशाला में पढ़ने के लिए बिठाये गये। वहाँ उन्होंने आठ बरस की उम्र तक पढ़ा। आठवें वर्ष पाठशाला की पढ़ाई समाप्त करके स्कूल में पढ़ने के लिए अपने पितृव्य मदनमोहन राय के साथ वे चटगाँव गये और वहाँ के सरकारी स्कूल में भरती हुए। दस वर्ष की उम्र में उनके पितृव्य का देहान्त हो गया। इससे उनके दिल पर बड़ी कड़ी चोट लगी। कारण यह था कि मदनमोहन बाबू अपने भतीजे नवीनचन्द्र को बहुत चाहते थे। इसी समय गृहदाह, मुक़दमेबाज़ी आदि अनेक दुर्घटनायें उनके परिवार में हुई। वे भी कुछ दिनों के लिए बीमार हो गये।

चटगाँव के स्कूल में नवीनचन्द्र की गिनती नटखट लड़कों में थी। उनके कारण सहपाठी लड़कों की नाक में दम रहती थी। लड़के क्या, कभी कभी शिक्षक महाशय तक उनकी व्यंग्योक्तियों का निशाना बन जाते थे। सवेरे, शाम नदी किनारे और निर्जन स्थानों में घूमना और प्रकृति की मनोहारिणी शोभा देखना उन्हें इसी समय से अत्यन्त प्रिय था।

नवीनचन्द्र ने चटगाँव के स्कूल से प्रवेशिका परीक्षा पास की। परीक्षा में वे प्रथम आये। उन्हें छात्रवृत्ति भी मिली। इसके बाद कालेज में पढ़ने के लिए वे कलकत्ते आये और प्रेसीडेंसी कालेज में भरती हो गये। कलकत्ते आने के दूसरे वर्ष नवीनचन्द्र का विवाह हुआ। विवाह के बाद ही उन्होंने एफ० ए० परीक्षा पास की। परन्तु इस बार वे छात्रवृत्ति न पा सके। इससे उन्होंने प्रेसीडेंसी कालेज छोड़ दिया और जेनरल एसेम्ब्लीज कालेज में प्रविष्ट होकर बी० ए० में पढ़ने लगे। इस समय

अपने व्यय के लिए अपने पिता को कष्ट देना उचित न समझ कर वे दो एक लड़के पढ़ाने और उसीसे अपना खर्च चलाने लगे। जिस समय बी०ए० की परीक्षा के सिर्फ़ तीन महीने बाक़ी थे, उनके पूजनीय पिता का देहान्त हो गया। इससे वे अत्यन्त शोकाकुल हुए। उन्हें चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार दिखाई देने लगा। यह बहुत सच है कि विपद अकेली नहीं आती। इसी समय महाजनों ने तड़ातड़ी मचाना और उन पर नालिश पर नालिश करना शुरू किया। परन्तु नवीनचन्द्र सेन बड़ी ही दृढ़ प्रकृति के मनुष्य थे। वे ज़रा भी विचलित न हुए। माता और स्त्री का सब गहना बेचकर उन्होंने सारा ऋण चुका दिया और फिर पूर्ववत् पढ़ने लगे। १८८६ ईसवी में उन्होंने बी० ए० पास किया।

सरकारी सेवा

इसी समय बाबू नवीनचन्द्र का परिचय स्वर्गीय विद्यासागर से हुआ। ज्योंही विद्यासागर महाशय को मालूम हुआ कि नवीनचन्द्र की दशा इस समय बड़ी ही ख़राब है त्योंही उन्होंने उसके दूर करने की चेष्टा की। फल यह हुआ कि बी० ए० पास करने के कुछ ही महीनों बाद बाबू नवीनचन्द्र डिपुटी मजिस्ट्रेट हो गये। इस पद पर आप कोई बाईस वर्ष अधिष्ठित रहे और अपना कर्तव्य योग्यता पूर्वक निर्वाह करते रहे। सन् १९०० में पेंशन लेकर आप इस पद से अलग हुए। तब से लेकर मृत्यु के समय तक आप अपना सारा समय साहित्य-सेवा और भगवद्भक्ति में बिताते रहे।

काव्य रचना

बाबू नवीनचन्द्र जब कालेज में पढ़ते थे तभी से कविता करने लगे थे। कविता-रचना-प्रणाली की शिक्षा उन्होंने अपने शिक्षक पण्डित जगदीशचन्द्र तर्कालंकार से पाई थी। एक दिन उनकी एक कविता पण्डित शिवनाथ शास्त्री की नज़र से गुज़री। उसे देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए।

उन्होंने उस कविता को एजुकेशन गैज़ट के सम्पादक बाबू प्यारीचरण सरकार को दिखलाया। सरकार महाशय दूसरे ही दिन नवीनचन्द्र के क्लास में पहुँचे और उनकी खूब प्रशंसा करके बोले कि तुम एजुकेशन गैज़ट के लिए सदा कविता लिखा करो। नवीनचन्द्र की कविता पहले पहल एजुकेशन गैज़ट ही में प्रकाशित हुई। उनकी पहली ही कविता देखकर लोगों को मालूम हो गया कि बंगदेश के काव्याकाश में एक नवीनचन्द्र का उदय हुआ है। फिर क्या था, उनकी असाधारण प्रतिभा और कवित्व-शक्ति की ख्याति शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की तरह दिन दूनी, रात चौगुनी बढ़ने लगी। तब से लेकर अन्त समय तक उन्होंने फुटकर कविताओं के सिवा अनेक महाकाव्य, काव्य, खण्ड-काव्य और चम्पू ग्रन्थों की रचना की। इनमें से ये मुख्य हैं:—

१—अवकाश रञ्जिनी, दो भाग	२—पलाशिर युद्ध
३—रंगमती	४—रैवतक
५—कुरुक्षेत्र	६—प्रभास
७—अमिताभ	८—गीता
९—चण्डी	१०—खृष्ट
११—भानुमती	१२—प्रवास-पत्र

कवित्व

बाबू नवीनचन्द्र सेन बड़े प्रतिभाशाली कवि थे। उन्होंने अपने काव्यों में निष्काम धर्म्म, त्याग धर्म्म, भगवद्भक्ति और विश्वप्रेम के उच्च आदर्श का जैसा मनोहर चित्र खींचा है और सरस तथा मधुर भाषा में जिस सौन्दर्य और चरित्र की सृष्टि की है वह बंगभाषा के साहित्य में चिरकाल तक अमर रहेगी। और पुण्यप्रभ ध्रुवतारा के समान बंगालियों को प्रकृत-पथ दिखलाती रहेगी। क्या भाव, क्या भाषा, क्या रसावतारणा सभी बातों में नवीनचन्द्र कविजन-वाञ्छित गुणों के अधिकारी थे।

ऊपर जिन पुस्तकों के नाम लिखे हैं उनमें सब से पहले अवकाश-रञ्जिनी नामक गीतिकाव्य १८७३ ईसवी में प्रकाशित हुआ था। इसमें ग्रन्थकर्ता का नाम न था। अर्थात् यह पुस्तक वेनाम ही छपी थी। स्वर्गीय बंकिम बाबू द्वारा सम्पादित वंगदर्शन नाम के मासिक पत्र में इसकी बड़ी अच्छी समालोचना हुई। इससे बाबू नवीनचन्द्र का नाम सर्वसाधारण में तुरन्त परिचित हो गया। अवकाश-रञ्जिनी नवीन बाबू का एक मात्र गीतिकाव्य है। इसके सिवा उन्होंने और कोई गीतिकाव्य नहीं रचा। वंगदेश के प्रायः सभी बड़े बड़े कवियों ने गीतिकाव्य बनाये हैं। पर उनके काव्य नवीन बाबू के गीतिकाव्य की बराबरी नहीं कर सकते।

इसके दूसरे साल "पलाशिर युद्ध" नामक महाकाव्य प्रकाशित हुआ। इसने नवीन बाबू को बंगसाहित्य के एक बहुत ऊँचे आसन पर बिठा दिया। इसकी भाषा बहुत ही सुस्पष्ट और ओजस्विनी हुई। बंकिमचन्द्र ने तो इसे अग्नितुल्य ज्वालामयी कहा। वास्तव में यह है भी अत्यन्त तीव्र और उग्र। ऐसी सबल भाषा और वर्णनाभंगी हेमचन्द्र के सिवा और किसी बंगकवि के काव्य में मिलना मुशकिल है। बाबू नवीनचन्द्र ने युद्धस्थल का जैसा अद्भुत चित्र खींचा है वैसा किसी बंगाली कवि से नहीं बन पड़ा। परन्तु सब से बड़ी बात यह है कि कवि ने वीर और करुण रस का एकत्र समावेश करने में अपनी असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया है। ऐसा जान पड़ता है मानों कवि ने "अग्नेय गिरि" के अग्निस्राव के साथ करुणा-मन्दाकिनी की पवित्र धारा बहाई है।

इसके बाद नवीनचन्द्र ने रंगमती काव्य की रचना की। परन्तु इस काव्य के देखने से मालूम होता है कि कवि की प्रवृत्ति बदलने लगी है। इसकी भाषा में वह ज़ोर नहीं है। पलाशिर युद्ध की रचना के समय कवि का जो उद्देश था वह पूर्ण रूप से बदल गया था। इस रुचिपरिवर्तन के अनेक लोग अनेक कारण बतलाते हैं। किसी किसी का कथन है कि

पलासी के मैदान में जिस विश्वास-घातकता और गृह-विवाद ने भारत के इतिहास को कलंकित किया था उसे कवि ने प्राचीन भारत के रण-क्षेत्रों में भी विद्यमान पाया। इसके बाद कवि ने सोचा कि प्राचीन काल में क्या कोई ऐसा भी महापुरुष हुआ है जिसने इस "क्षत-च्छिन्न विक्षिप्त भारत" में एक महाधर्म्म-साम्राज्य स्थापित करने की कोशिश की हो! इस समय उसे भगवान कृष्णचन्द्र के सिवा और कोई न देख पड़ा। बस, इसी लिए कवि ने उनकी सौम्य मूर्ति को सम्मुख रखकर अपने परवर्ती काव्यों की रचना की। रैवतक, प्रभास, कुरुक्षेत्र आदि काव्य इसी श्रेणी के हैं।

बाबू नवीनचन्द्र अपने अपूर्व प्रतिभा-बल से भारत के भविष्य इतिहास का आभास दे गये हैं। किस रास्ते, किस तरह चलने से भारत की पूर्व-ज्ञान-गरिमा, पूर्व-ऐश्वर्य्य, पूर्व-ऋद्धि-सिद्धि लौट आवेगी, कवि ने अपने चित्रित कृष्णचरित में इसी का इशारा किया है।

उपसंहार

उदयास्त जगत् का नियम है। इसी नियम के अनुसार वंगदेश के आकाश में सुधांशु के समान उदित होकर नवीनचन्द्र ने अपने काव्यरूपी प्रकाश से वंगदेश को प्रकाशित किया था। इसी नियम के अनुसार वे अस्त हो गये हैं। वे अस्त हो गये तो हो जायँ, परन्तु उनकी कवि-कीर्ति उनको अमर रक्खेगी। जब तक बंगाल में वंगभाषा का प्रचार रहेगा, जब तक संसार में वंगाली जाति विद्यमान रहेगी तब तक लोग अपने मनोमन्दिर में उनकी पूजा करेंगे। नवीनचन्द्र का नाम वंगाली कभी न भूलेंगे।

(सरस्वती से उद्धृत)

समालोचना

(१)

मनुष्य जगत् में निर्दोष रूप नहीं, निर्दोष काव्य भी नहीं। कविवर नवीनचन्द्र सेन का यह काव्य भी सर्वांश में निर्दोष नहीं है। तथापि यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि पलासी के युद्ध में सर्वत्र ही उनके असाधारण कवित्व का निदर्शन है। निस्सन्देह यह वंगभाषा के कण्ठहार में एक रमणीय रत्न स्वरूप ग्रथित होगा और जब तक यह भाषा जीवित रहेगी तब तक इसकी कमनीय कान्ति वंगवासियों के हृदय-दर्पणों में प्रतिफलित होगी।

इस काव्य का विषय है पलासी का प्रसिद्ध युद्ध अथवा नवाब सिराजुद्दौला का पतन और वंगदेश में अँगरेज़ों की राज-श्री का पहला अभ्युदय। इस देश के लोग साधारणतः जिन सब विषयों का आदर करते हैं वे इस काव्य में नहीं पाये जाते। इसमें देवता नहीं, गन्धर्व नहीं, देवासुर-संग्राम नहीं, तपोवन का वर्णन नहीं, जटा-वल्कलधारी तपस्वियोंकी तपस्या की कथा अथवा शैवालसमावृता पद्मिनी की तरह वल्कलावृता मुनिकन्याओं का प्रेम, विरह और अश्रु प्रभृति भारतप्रिय हृदयहारी वृत्तिसमूह का उल्लेख नहीं। परन्तु फिर भी इसमें जो कुछ है उसे पढ़ते पढ़ते हृदय अनिर्वचनीय आनन्द से उछलने लगता है और कल्पना के अनन्त समुद्र में तैरने लगता है।

पलासी का युद्ध कहने से बालक मार्शमैन के इतिहास की याद करते हैं और वृद्ध लोग विलायत का कोई प्रसंग समझ कर वीतस्पृह हो जाते हैं। किन्तु जिनकी आँखों ने दृष्टि-शक्ति प्राप्त की है एवं जो बुद्धि-चिन्ता के साथ, हमारे कवि की कल्पना के संग उड़ सकेंगे, उनके निकट वंगीय कवि की वीणा के लिए इसकी अपेक्षा ऊँचा विषय मिलना

मुश्किल है। पलासी का युद्ध वर्तमान भारत के इतिहास का प्रथम पृष्ठ है, नियति-नेमि का अन्तिम आवर्तन है। गंगा और यमुना के समान दो पुराण-प्रसिद्ध नदियाँ दो ओर से प्रवाहित होकर जहाँ आकर प्रेम पूर्वक परस्पर मिलती हैं, उस स्थान की पूजा बहुत लोग भक्ति भाव के साथ तीर्थ मानकर करते हैं। इसी तरह समुद्र के सारे पूर्वोच्छ्वास-प्रवाह जहाँ आकर भैरवगर्जन करते हुए आपस में आघात करते हैं और भयंकर तरंगें उठाकर तट-भूमि को कँपाते हैं, उस स्थान को बहुत लोग प्रकृति की महिमा से मुग्ध होकर वैज्ञानिक लोगों का दृश्यस्थान समझते और उसका आदर करते हैं। इस विचार से पलासी का क्षेत्र महातीर्थ और महा दृश्य है। इसी स्थान पर पूर्व और पश्चिम परस्पर सम्मिलित होते हैं। इसी स्थान पर प्राचीन सभ्यता और आधुनिक उन्नति के प्रतिकूल प्रवाह परस्पर घात-प्रतिघात करते हैं। इसी स्थान पर वंश परम्परा के लिए करोड़ों आदमियों के भाग्य की परीक्षा हो जाती है। इसी स्थान पर दो महा देशों के दोनों इतिहास, काल की एक कुक्षि में, एक ही साथ, निमज्जित होकर एकीभूत नूतन मूर्ति से भासित होते हैं; एवं वंगभूमि, भारतवर्ष और सम्पूर्ण एशिया-भू-भाग में इस समय जो परिवर्तन का चक्र चल रहा है, असल में इसी स्थान से उसका परिचालन आरम्भ होता है। इतिहास में यदि पलासी का युद्ध न होता तो इस समय इस देश की क्या अवस्था होती, इसका विचार करना भी कठिन है। लोग इस समय जो युगान्त-प्रलय और अभिनव सृष्टि देखकर कभी आशा से प्रफुल्ल और कभी विषाद से अवसन्न होते हैं, उसका कहीं चिन्ह भी दिखाई देता या नहीं, इसमें सन्देह है। वस्तुतः समालोच्य ग्रन्थ में पलासी का युद्ध जिस भाव से कथित हुआ है वह अत्युच्च कल्पना का परिचायक है एवं सम्पूर्ण चित्त को हृदय में ग्रहण करने के लिए इतिहास रूपी शैल के शिखर पर आरोहण करके भारत के मान-चित्र को कवि के नेत्रों से देखने की फिर आवश्यकता पड़ती है। नहीं तो पलासी का युद्ध कुछ भी नहीं है।

हम केवल कल्पित विषय की उच्चता, असार और अतुल गौरव के विचार से ही कवि की प्रशंसा नहीं करते। इस कल्पना में नवीन बाबू की और भी एक विशेष प्रशंसा है। जिस मार्ग से उन्होंने गमन किया है उनके पहले कोई उससे नहीं गया। वे साहस पूर्वक जिस "मणि-खानि" के भीतर प्रविष्ट हुए हैं उसमें किसीने उनके लिए आलोक वर्तिका स्थापित नहीं की। विद्यापति और चण्डीदास प्रभृति कवियों के समय से इस देश में जिस किसी ने भी काव्य-रचना की है उसने एक न एक प्राचीन अवलम्ब पाया है। किसीने पुराने फूलों की नई माला बनाई है, किसी ने नये फूलों को पुराने सूत्र में गूँथा है। नवीन बाबू ने यह नहीं किया। उनका अवलम्ब अपना ही हृदय और अपनी ही कल्पना है। उनके लिए वाल्मीकि भी मणि-वेध नहीं कर गये हैं एवं कवि कल्पपादप व्यासदेव भी रत्न सजाकर नहीं रख गये हैं। उन्हें प्रायः सब अपने ही हाथों से सञ्चयन और प्रयत्न करना पड़ा है। यह थोड़े गर्व की बात नहीं। यद्यपि आधुनिक रीत्यनुसार पुस्तक में कोई भूमिका नहीं रक्खी गई है तथापि दूसरे सर्ग में आशा को सम्बोधन करके कवि ने अपने मन का विनयाच्छन्न अभिमान और अभिमानाच्छन्न भय अत्यन्त कौशल पूर्वक व्यक्त किया है। हम उनके अभिमान को अन्तः करण से क्षमा करते हैं एवं उनकी आशा दुराशा नहीं है, यह सरल हृदय से विश्वास किये लेते हैं। जिनकी कृपा से आज बंगाल में मधुसूदन प्रभृति कवियों का नाम लोगों के कण्ठ कण्ठ में विचरण कर रहा है वे नवीन बाबू पर अप्रसन्न नहीं।

पलासी का काव्य अनति दीर्घ पाँच सर्गों में विभक्त है। इसके पहले सर्ग में विद्रोहियों का षड्यन्त्र और उनकी कुमन्त्रणा, दूसरे सर्ग में ब्रिटिश-सेना का शिविर सन्निवेश, तीसरे सर्ग में पलासी क्षेत्र के वर्णन-प्रसंग से सिराजुद्दौला की तत्कालीन दशा का वर्णन इत्यादि, चौथे सर्ग में युद्ध और पाँचवें सर्ग में सिराजुद्दौला की शोचनीय एकान्त हत्या का वर्णन है।

प्रथम सर्ग का आरम्भ जैसा गम्भीर है वैसा ही मनोहर भी है।

जान पड़ता है, मेघनाद-वध के आरम्भ के अतिरिक्त बंगला के किसी भी काव्य के प्रारम्भिक वर्णन में इस प्रकार भयंकर गाम्भीर्य्य और परिम्लान मनोहारित्व प्रदर्शित नहीं हुआ। अभ्रभेदी पर्वत किं वा अनन्त विस्तृत समुद्र प्रभृति के वर्णन से मन में एक तरह की गम्भीरता का आवेश होता है, यह गाम्भीर्य्य उस तरह का नहीं। किसी अलौकिक रूपवती रमणी किं वा मृदु-वाहिनी नदी अथवा सरोवर विलासिनी प्रफुल्ल कमलिनी प्रभृति के वर्णन में भी उच्च श्रेणी के कवि मनोहारित्व की सृष्टि कर सकते हैं।

यह मनोहारित्व भी उस प्रकार का नहीं। यदि कोई प्रतिभाशाली चित्रकार विषाद की प्रतिमूर्ति अंकित करने में समर्थ होता एवं उस मूर्ति में आतंक और आशा, इन दोनों का विरोध और शोक की मलिनता पूर्णतया प्रकट कर सकता तो उसी के साथ इसकी उपमा दी जा सकती। पढ़ते समय जान पड़ता है मानों प्रकृति अपने आप आकर आजन्म दुःखिनी बंगभूमि के दुःख में करुण कण्ठ से विलाप कर रही है और सारा संसार भय, विस्मय एवं शोक से स्तम्भित होकर अनन्य मन और अनन्य श्रवणों से उस विलाप को सुन रहा है।

दिगन्त व्यापी अन्धकार के वर्णन में एक अद्भुत पंक्ति हठात् कवि की लेखनी से निकल पड़ी है:—

तम में अनन्य काय शून्य धरातल है

इस पंक्ति का अनुवाद यदि संस्कृत में किया जाय तो महाकवि भारवि के निम्नोद्धृत प्रसिद्ध श्लोकार्द्ध के साथ यह निर्भय जोड़ दिया जा सकता है:—

"भवति दीप्ति रदीपित कन्दरा
तिमिर संवलितेव विवस्वतः

इस सर्ग में कुछ आगे चलने पर यवनों के निर्यातन का निदानीभूत जगत्सेठ का निभृत मन्त्रणा-भवन दिखाई देता है। इस मन्त्रणा-चित्र में कुछ अनुकृति की छाया पाई जाती है। जिन्होंने मिल्टन के स्वर्ग-भ्रंश (Paradise lost) काव्य के दूसरे सर्ग में पांडिमोनियम की वह

रोमाञ्चकारिणी वर्णना पढ़ी है, उनको यह चित्र विशेष विचित्र न जान पड़ेगा। किन्तु अनुकृति की छाया होने से यह किसी प्रकार निन्दनीय नहीं। पहले तो पलासी के युद्ध में यह अंश अपरिहार्य है, दूसरे इस मन्त्रणा के और पांडिमोनियम की मन्त्रणा के अधिनायकों में भेद है। ये सब रक्त-मांस के मनुष्य हैं, वे कविकल्पित उपदेवता। इनके शोक, मर्म्म-व्यथा एवं आशा और भय हम लोग समझ सकते हैं, उनकी सब बातें मानवीय सहानुभूति के बहिर्भूत हैं *। हम विशेष निर्वाचन न करके इस अंश से कुछ पंक्तियाँ नीचे उद्धृत करते हैं। वर्णन में कैसा प्रशंसनीय चित्र-नैपुण्य दिखाया गया है, इसका विचार सहृदय पाठक कर देखें।

(प्रथम सर्ग पृष्ठ ६ में "नम्रमुख पाँचवीर बैठे ये अडोल हैं" यहाँ से लगा कर "मानों बहारुद्धगिरि-निर्झर गरज कर" तक)

कूटचक्रवद्ध मन्त्रणा करने वालों में से सभी सिराजुद्दौला के घोर विद्वेषी और मर्म्मान्तक शत्रु थे। उसका सिंहासन इसी क्षण चूर्ण-विचूर्ण हो जाय, यही सब की हार्दिक इच्छा थी। किन्तु कवि ने बड़ी सावधानी से विशेष कौशल पूर्वक इन में से प्रत्येक के भाव भिन्न भिन्न रीति से प्रकाशित करके चरित्र-वैचित्र्य की रक्षा की है। इसी के साथ अपनी लोक-प्रतिज्ञता एवं शाब्दिक क्षमता का भी परिचय दिया है। मन्त्रिवर राय दुर्लभ कपटी धार्म्मिक हैं। कछुवे की गर्दन की तरह उनका मन एक बार बाहर आता है और दूसरी बार भीतर घुस जाता है। वे स्पष्ट रूपसे कुछ भी नहीं देख सकते। जहाँ वे अपना पैर रखना चाहते हैं वहीं उन्हें काँटों का भय होता है-जिनके साथ वे मन्त्रणा करने के लिए आये हैं, उन पर भी उन्हें पूरा विश्वास नहीं होता। अन्त में वे प्राण-भय को पाप-भय कहते हैं और इस प्रकार के मनुष्य जैसा करते हैं, मनकी बात मन में ही रख कर इसका उसका मुँह ताकते हैं। उनके बाद जगत्सेट। पाण्डवों की सभा में

* फिर अनुकृति की छाया कहां रही ?

प्रकाशक।

जैसे भीमसेन थे वैसे ही इस सभा में जगत्सेठ हैं। वे भीम के ही समान अकपट, असन्दिग्ध चित्त, अटल साहस पूर्ण एवं अभिमान के विष से जर्जरित हैं। सेठ के हृदय का क्रोध आग्नेयगिरि के समान है। उससे जो कुछ निकलता है वह सुनने वाले के ऊपर अनलस्फुलिंग की तरह पड़ता है। उनकी बातें नाड़ियों में अग्निस्रोत बहा देती हैं।

जगत्सेठ की प्रतिज्ञा भी भीमसेन के समान है। उसे सुनते ही हृदय चमत्कृत हो उठता है एवं इतना देर में पुरुष सामने आया है, यह मालूम होने लगता है—

(प्रथम सर्ग पृष्ठ १३ में—"चाहे शरच्चन्द्रिका भले ही कभी भ्रष्ट हो" यहाँ से लगा कर—"तो भी नहीं पा सकेगा मुझ से कदापि त्राण" तक)

राजनगराधिप महाराज राजवल्लभ की बातों में विष का मिश्रण है, विद्युद्वेग नहीं। उनकी बातें मानों निकल निकल कर भी दुःख के मारे नहीं निकल पातीं। किन्तु इस अस्फुट कथन को सुन कर भी—

" × × मीरजाफर का धड़क उठा हिया "

राजा कृष्णचन्द्र प्रकृत धार्म्मिक, पापद्वेषी, पवित्र और पर दुःखकातर हैं। जिस समय वे अलीवर्दी के अकलंक चित्र-पट की ओर दृष्टि डाल कर सिराजुद्दौला की कलंक-पंकिल कुत्सित प्रतिमूर्ति देखते हैं, उस समय घृणा से उनका आत्मा जर्जरित होने लगता है। किन्तु वे जगत्सेठ की तरह साहसी नहीं हैं। राजवल्लभ की तरह कूट भाषी भी नहीं हैं। उनका परामर्श स्पष्ट है। चक्रियों में उनका ही चक्रान्त नहीं, क्योंकि वे मीमांसा करने वाले हैं। विस्तार भय से रानी भवानी के भाषण में से कुछ उद्धृत न कर सकने का हमें खेद है, किन्तु हम यह कह सकते हैं कि जो कोई वह अमृताक्त विष किं वा विषाक्त अमृत पान करेंगे वे पद पद पर कविवर नवीनचन्द्र सेन को जी खोल कर धन्यवाद देंगे। यदि कोई मनुष्य गम्भीर निद्रा में सहसा कोई अश्रुत पूर्व शब्द सुन कर जाग उठे तो जिस प्रकार उसका चित्त अनेक प्रकार के अचिन्त्य भावों से आलोड़ित होने लगता है, उसी प्रकार

इस काव्य के प्रथम सर्ग से द्वितीय सर्ग में अवतीर्ण होते ही पाठकों का असावधान चित्त आलोड़ित होने लगता है।

प्रथम सर्ग की सभी बातें रात के दुःस्वप्न की भाँति अलीक जान पड़ती हैं। अथवा घोर अँधेरी रात में जिस भाँति अकस्मात् मेघगर्जन सुनने किंवा सहसा विजली की क्षणिक आभा देखने पर उसे भ्रम मानने की इच्छा होती है, उसी भाँति जो कुछ सुना है और जो कुछ देखा है वह भ्रम-सा जान पड़ता है किन्तु द्वितीय सर्ग में प्रवेश करते ही वह प्रीतिकर भ्रम दूर हो जाता है एवं जो कुछ सुना नहीं और देखा नहीं उसे देख कर और सुन कर मन विस्मय के बाद भय और भय के बाद विस्मय से विस्फारित और संकुचित होने लगता है। कहाँ इँग्लैंड और कहाँ वंग भूमि! किन्तु यह क्या सुनते हैं और क्या देखते हैं?

"वीर–ब्रिटिश-रण-वाद्य अहा! बजते हैं झम झम
पदातिकों के पैर ताल पर पड़ते हैं सम
हींस रहे हय, गरज रहे गज यथा घनाघन
झूल झूल कर शूर–शस्त्र कर रहे झनाझन
ठहर ठहर कर वीर–कण्ठ से सेनापति के
बदल रहे हैं विविध भाव सैनिक निज गति के
नचते हैं ज्यों साँप सँपेरे के गुण–बल से
रखते हैं त्यों धीर और द्रुत पद–कौशल से
कभी करों में शस्त्र, कभी कन्धों पर रखते
कभी घूमते, कभी साध कर लक्ष्य निरखते
झर झर झर झंकार विपुल होता है भूम का
विज्ञापन दे रहा सगर्व ब्रिटिश–विक्रम का"

इस सर्ग में समरोन्मुख सैनिकों के मनोभावों को अंकित करते हुए कवि ने आशा की एक वन्दना की है, वह बहुत काल तक याद रहेगी। इस वन्दना को स्काटलैंड के प्रसिद्ध कवि कैम्बेल की आशा नाम्नी कविता

के साथ मिला कर पढ़ने पर पाठक विशेष आनन्द प्राप्त करेंगे। कैम्बेल की आशा भूलोक छोड़ कर उच्चतम आकाश में विचरण करती है; नवीन बाबू की आशा स्नेह-गद्गद प्रिय जन के कण्ठ की तरह, रोम रोम में विचरण करके, मन को हर लेती है। दोनों ही सुख-दर्शन हैं। किन्तु एक मध्यान्ह के मार्तण्ड की प्रचण्ड ज्योति है; और दूसरी लघु मेघावृत चन्द्रमा की शीतल कान्ति। एक सुदूर वर्तिनी है और दूसरी मर्म्मस्पर्शिनी। जो ब्रिटिश-सेना के प्रधान नायक एवं भारत में अँगरेजी राज्यमहिमा के प्रथम प्रतिष्ठाता हैं, उन चिर विश्रुतनामा, दुर्द्धर प्रकृति क्लाइव के साथ इस समय तक किसी का परिचय नहीं। वे कहाँ थे, क्यों वंगदेश में आये थे, एवं आकर भी आज किस कारण कटवा शिविर में, पेड़ के नीचे, एकाकी गम्भीर चिन्ता में निमग्न हैं, इन बातों का कवि ने आख्यायिकाकारों की प्रचलित रीति के अनुसार इसके पूर्व कुछ भी वर्णन नहीं किया। किन्तु आशा के आगे जिज्ञासा करने के बहाने जिस भाव से वह वीर वर सामने लाया गया है, वह बहुत ही सुन्दर हुआ है। इस प्रकार पट-परिवर्तन होने से मन में कुतूहल होता है, एवं उत्तरोत्तर चित्र देखने के लिए चित्त में सहज ही उत्सुकता उत्पन्न हो उठती है। क्लाइव की उस समय की मुख-च्छवि एवं मनोगत भावों का जैसा वर्णन हुआ है वह भी हमारी राय में प्रशंसनीय है।

नवीन बाबू ने वर्णनीय वीर पुरुष के नेत्रों और उसकी दृष्टि पर विशेष ध्यान दिया है। यदि वे उसके होंठ, नासिका, भृकुटि एवं बैठने की भंगिमा को भी अंकित कर देते तो विज्ञान की भी सम्मान रक्षा हो जाती और उनका वर्णन भी चमत्कार पूर्ण हो जाता। क्लाइव के वर्णन में थोड़ी सी न्यूनता रहने पर भी जो ध्यानयोग में उनके मानस-चक्षुओं के सामने, इस क्षुद्रतामय नरलोक में, क्षण भर के लिए पधारी हैं उनकी (ब्रिटिश राजलक्ष्मी की) ओर देखते ही सब भूल जाना पड़ता है। एक बार नयन भर कर इस मूर्ति के दर्शन करने पर नवीन बाबू को सामान्य प्रशंसा का

उपहार देने की कभी इच्छा नहीं होती। प्रशंसा करने की इच्छा उस समय प्रीति और भक्ति में परिणत हो जाती है जिस समय वीर केसरी क्लाइव सन्देह के झूले पर दोलायित होकर आशा की हिलोरों से एक बार ऊपर चढ़ते हैं एवं परिणाम सोच कर फिर विवश होकर नीचे गिरते हैं, जिस समय सम्पद और विपद, विजय और पराजय एवं कीर्ति और अकीर्ति की विभिन्न मूर्तियाँ क्षण क्षण में उनके कल्पना-चक्षुओं के सामने प्रतिभासित होकर उनको विशेष रूप से विलोड़ित करती हैं, एवं जिस समय अपमान का वृश्चिक-दंशन, लोभ की अद्भुत ताड़ना और अभिमान की प्रज्वलित अग्नि उनके हृदय को एक अनिर्वचनीय उत्साह से स्फीत कर देती है, उसी समय राजराजेश्वरी रूपिणी एक दिव्य रमणी, आराध्य देवता की तरह अथवा मूर्तिमती सिद्धि अथवा विजयलक्ष्मी की तरह, अँधेरे घर में दीप-शिखा के समान, अकस्मात् उनके सामने आविर्भूत होती है। उस समयः—

"फैला शत शत सूर्य्य-तेज-सा नभ-मण्डल में
उतरी एक प्रकाश-राशि-सी पृथ्वीतल में
क्लाइव-मन में विविध भाव विस्मय के जागे
देखी ज्योतिर्मयी एक रमणी-माथि आगे

यह रमणी-चित्र अतुलनीय है। इस अलौकिक रूप-राशि के दर्शन से नीच भावापन्न मनुष्य को भी, कुछ देर के लिए, आत्मविस्मरण हो जाता है एवं जो पवित्रता कभी उसका स्पर्श नहीं करती वह आकर उसमें आविष्ट हो जाती है।

अभया ने "मा भैः" शब्द से क्लाइव के आकुल प्राणों को आश्वस्त और उनके निर्वाणोन्मुख साहस को पुनर्वार प्रदीप्त करके आकाश-वाणी की तरह जो बातें कही हैं, उन्हें सुनने के लिए हृदय बारंबार अधीर और सुनकर दुःख के दाह से दग्ध हो जाता है।

हम इस सर्ग की एक वर्णना का और उल्लेख करते हैं। रसग्राही

सहृदय पाठक उसे पढ़कर विस्मित और विमोहित होंगे। यदि कल्पना की उच्चता और चित्रगत कारुकारिता से आत्मा को अभिभूत कर सकने में काव्य की प्रशंसा होती है तो यह अंश कितना प्रशंसनीय है, यह नहीं कहा जा सकता। प्राचीनता की अन्धभक्ति छोड़कर, पक्षपात-शून्य हृदय से विचार किया जाय तो इस वर्णन के कवित्व की तुलना कम ही मिलेगी। जिस समय वह ज्योतिर्मयी वरवर्णिनी जान गई कि उसके साधक की कामना सिद्ध हो गई, उस समय उसने उसे दिव्य दृष्टि प्रदान करके, मानों अंगुली-निर्देश पूर्वक, विधाता के बनाये हुए "भावी भारतमानचित्र" को दिखलाना आरम्भ किया। भारतवासियो! जीवित हो या मृत हो, तुम भी एक बार उस मान चित्र को देखो।

इस सर्ग के अन्त में एक संगीत है। वीरकण्ठ ब्रिटिश सैनिकगण रण के मद से मत्त होकर, गरज गरज कर, एक स्वर से यह गीत गाते गाते गंगा पार हो रहे हैं और ताल ताल पर, आघात आघात पर गंगा की निर्मल जलराशि लहरी-लीला से नाच रही है। भागीरथी ने बहुत दिनों के बाद वीर रस से नृत्य किया। गीत-कविता बनाने में ग्रन्थकार की कैसी क्षमता है-बंगीय साहित्य-समाज में बहुत पहले उसकी परीक्षा हो चुकी है। इस तरह की कविता केवल मनोरञ्जन ही नहीं करती, उपकार भी करती है। जैसे एक जन-का गीत सुनकर और एक जन-को गाने की इच्छा होती है वैसे ही एक जाति की जय-गाथा सुनकर अन्य जाति का हृदय भी गाने के लिए उत्सुक हो उठता है। इसका नाम है सहानुभूति का शासन एवं यही महान उपकार है। सिंहलविजय के समय बंगालियों ने एक बार यह गीत गाया था। दैव-वश इस समय उनका कण्ठ नीरव हो गया है। अथवा इस दीपक और हिण्डोल राग पर विराग होने से लता की तरह दोलायमान विलासिनियों के कोमल कण्ठों के अनुकरण ही की प्रवृत्ति उनमें उत्पन्न हो गई है। यदि बंगाली फिर किसी दिन इसी प्रकार गीत गाकर जल-स्थल निनादित कर सकेंगे तो वही बंग-भारती विमान में बैठकर आनन्दाश्रु बरसावेगी।

यह सिद्ध है कि काव्य का प्रधान परीक्षा-स्थल पाठकों का हृदय है। तार्किकों की भाषा सोपान पर सोपान आरोहण करके बुद्धि को सम्बोधन करती है। परन्तु कवि की कण्ठलहरी तर्क के कुटिल पथ पर न जाकर एक वार ही हृदय के मर्मस्थान पर पहुँचती है। सुतरां-जो वाक्य जिस परिमाण से हृदय के ऊपर कर्तृत्व कर सकता है,-श्रोता या पाठक के हृदय के निद्रित भावों को जगा सकता है-वह काव्य उसी परिमाण से कृतार्थता लाभ करता है। और, जो काव्य जिस परिमाण से हृदय को स्पर्श करने अथवा उसके निकटस्थ होने में असमर्थ होता है वह उसी परिमाण से अकाव्य में परिगणित होता है। पोप और बाइरन को देखिए। पोप की कृति पढ़ते समय आपको पहले यही प्रतीति होगी कि आप किसी सावधान पुरुष के समीप बैठे हैं। उत्तरोत्तर कथा के ग्रथन में सावधानता, भावों के समावेश में सावधानता एवं पद-विन्यास में भी वही सावधानता। भावों का समावेश सौ सौ बार परीक्षा करके हुआ है एवं प्रत्येक भाव शतवार शोधित होकर कवि के हृदय से बाहर निकला है। बाइरन की रचना में उसका चिन्ह भी नहीं। वह रात में वंशीध्वनि के समान किंवा वायु विक्षुब्ध स्रोतस्विनी की विलापध्वनि के समान है। सुनते ही चित्त पागल की तरह नाच उठता है। क्या सुना, किसने सुनाया, इसके विचार करने का अवसर ही नहीं रहता, प्राण आकुल हुए जाते हैं, यही धारणा रहती है। कभी विरति होने लगती है, कभी प्रीति का सञ्चार होने लगता है। कभी आत्मा अशान्ति से छटपटाने लगता है एवं कभी शान्ति के क्षण स्थायी सुख-स्पर्श से क्षण भरके लिए सुख का स्वादु पाने लगता है। किन्तु वह अनिर्वचनीय आकुलित भाव किसी प्रकार शान्त नहीं होता। वह क्रमशः बढ़ता ही जाता है और अन्त में समस्त हृदय को तरंगायित कर देता है। उल्लिखित दोनों कवियों में शक्ति विषयक इतना तारतम्य क्यों? इस प्रश्न का सब यही उत्तर देंगे कि एक जन बुद्धि का कवि है और दूसरा हृदय का। एक घरका पिञ्जर बद्ध तोता है, दूसरा मदमत्त वन-विहंग। जो बुद्धि

के कवि होते हैं वे 'इसलिए' अथवा 'अतएव' लगाकर बुद्धिमानों को समझाते हैं किन्तु उनकी वे सुमार्जित और सुसंगत बातें सुनी जाकर भी अनसुनी-सी हो जाती हैं। परन्तु जो हृदय के कवि होते हैं वे तान के परिमाण पर दृकपात न करके हृदय का सुख किं वा दुख गा डालते हैं। तथापि वह वन्य संगीत, विशृंखल होने पर भी, इस हृदय से उस हृदय में प्रतिध्वनित होता है और एक तान में सौ तानों की सृष्टि करता है।

पलासी का युद्ध इसी श्रेणी का काव्य है। यह हृदय रूपी सजीव प्रस्रवण से निःसृत हुआ है। इस कारण इसकी प्रत्येक कविता और प्रत्येक पंक्ति सजीवता का परिचय देती है। हम वाइरन के किसी काव्य से इसकी तुलना नहीं करना चाहते क्योंकि ऐसा करने से अवश्य ही यह हीनप्रभ प्रतीत होगा।

किन्तु वाइरन की कविता में जो दृकपात शून्य वन्य भाव एवं जो अद्भुत मादकता है, इसमें भी, अनेक स्थलों पर, उसके अनुरूप पदार्थ परिलक्षित होते हैं। कोई कृत्रिम कवि पलासी का युद्ध बनाने में कभी समर्थ न होता। इसके लेखक के हृदय में चिर वसन्त, चिरयौवन विराजमान है। उसमें वार्द्धक्य की जड़ता नहीं, चिन्ता परायण मात्र सावधानता नहीं, एवं सोच सोचकर पदविन्यास का अवकाश नहीं। तथापि, रचना मर्म्मस्पर्शिनी है। पाठक तृतीय सर्ग के आरम्भ से ही, इसका परिचय पावेंगे कि नवीनचन्द्र को हम क्यों असावधान कहते हैं एवं असावधान कहने पर भी उन्हें क्यों अकृत्रिम कवि कहते हैं।

उक्त कविता पढ़ना आरम्भ करते ही यह धारणा होती है कि कवि अतीव सहृदय और अतीव चिन्ताशील व्यक्ति है। वह कल्पना के योग से उस भारत-विश्रुत पलासी के प्रांगण में उपस्थित हुआ है और उपस्थित होते ही चिन्ता के आवेग से अवसन्न हो गया है। उसका मन उसके हाथ में नहीं रहा। हृदय में गम्भीर शोक-सिन्धु उछल उठा है, एवं शोक-वश आँखों से झर झर आँसू झरने लगे हैं। इसके बाद ही जिज्ञासा होती है

कि यह शोक क्या है ?—मुग़लों के दुःख का दुःख, शत्रु के लिए सहानुभूति, उत्पीड़कों के लिए उत्पीड़ितों का सकरुण खेद अथवा कारण बिना कार्य्य ? अच्छी बात है, शोक का स्रोत ही प्रवाहित हो; अकस्मात् यह क्रोध की स्फूर्ति कहाँ से हुई ? यदि मुग़लों के दुःख से ही हृदय द्रवित हुआ है तो फिर "पापी यवन" कहकर उनका तिरस्कार क्यों ? और, बंगालियों को ही उन "पापी यवनों" के निपातगीत से विशेष दुःख क्या ? पढ़ने वालों के चित्त में इस प्रकार के कितने ही विचार उठते हैं और वे कवि की कल्पना के अन्तर तम प्रदेश में प्रविष्ट होकर इनकी मीमांसा करने की चेष्टा करते हैं। इतने ही में एक नई बात होती है। कहाँ करोड़ों मनुष्यों के भाग्य की परीक्षा और कहाँ रमणी-गण के रूपों की तरंगें ! परन्तु कवि इस भारत का भाग्य-सूत्र हाथ में लिये नवाब सिराजुद्दौला के शिविरस्थ विलास-गृह में प्रविष्ट हुआ, वैसे ही सब बातें उस विलास-सरसी में एक साथ डूब गईं ! उस समयः—

घेरे सिराज को सरस सुन्दरी-गण हैं,
काश्मीर-कुसुम हैं और वंग-भूषण हैं।

इत्यादि

औरः—

झंकार मात्र ही नहीं, अहा ! वह सुषमा,
क्या मदनमोहिनी मूर्ति अपूर्व अनुपमा !

इत्यादि

हम पहले जिस असावधानता की बात कह आये हैं वह यही है, एक गीत में और एक गीत, एक रागिणी में और एक रागिणी। किन्तु इस असावधानता में भी क्या ही स्वाभाविक चमत्कार विराजमान है, क्या ही अद्भुत सहृदयता प्रकाशित हो रही है ! तरंग के ऊपर तरंग की तरह उद्वेलित हृदय-समुद्र में बार बार भाव परिवर्तन होता है और आत्मविस्मृत कवि उन समस्त चञ्चल भावों को वर्ण-तूलिका लेकर अविराम गति से

अंकित करता जाता है। मन की इस अवस्था में क्या कभी सावधान रहा जा सकता है? अथवा तर्कशास्त्र का प्रबोध देने के लिए इतना सावधान होकर चलने से क्या कविता चञ्चल सौदामिनी की तरह मूर्तिमती और हृदय ग्राहिणी हो सकती है? कवि ने इस सर्ग में और एक असाधारण क्षमता दिखलाई है। रमणी-रूप के वर्णन से, नृत्य-गीत के वर्णन से एवं हाव, भाव, लीला, रंग और विलास-विभ्रमादि के वर्णन से बहुधा चित्त चलायमान हो उठता है। अविरल वारिधारा में धूप के विषाद मय हास्य की तरह अथवा प्रातःकाल के टिमटिमाते हुए दीपक की तरह पाठकों की दृष्टि में सभी निरानन्द आनन्द की मूर्ति धारण करता है। संस्कृत के अलंकारशास्त्र के अन्धभक्त शृंगार रस को सर्वदा करुणरस का विरोधी कहते हैं। जो शृंगार रस के उद्दीपक वर्णन में इस प्रकार करुणरस का उद्बोधन करने में कृतकार्य्य हुए हैं उनको महाकवि कहें या न कहें, इसके कहने की आवश्यकता नहीं।

पलासी के युद्ध का चतुर्थ सर्ग बंगाली मात्र के गर्व का विषय है। बंग भाषा में ऐसी सामग्री बहुत ही कम है। इसका कोई अंश पढ़िए, आप मोहित और पुलकित हो जायँगे और जितनी वार पढ़ेंगे उतनी ही वार नूतन आनन्द का अनुभव करेंगे। क्या रस, क्या रचना, सभी अंशों में यह यत्परोनास्ति मादक और मनोहर है। यदि स्थान होता तो हम इसे आद्योपान्त उद्धृत करते। तथापि यहाँ वहाँ से कुछ अंश उद्धृत किये विना नहीं रह सकते।

(युद्ध के वर्णन से लेकर मोहनलाल के उत्तेजन तक स्थान स्थान से उद्धरण)

इसके वाद फिर युद्ध, मीरजाफ़र की विश्वास घातकता और प्रतारणा एवं वंगेश्वर का पराजय और पलायन। उस समय कल्पना-दृष्टि से अस्तोन्मुख सूर्य्य की ओर देखकर कवि ने जो कुछ कहा है, अश्रुजल के सिवा भारतवासी उसका प्रतिदान नहीं दे सकते। प्रिय-वियोग-विधुरा कामिनी

के कण्ठ का विलाप सुना है एवं वीणा का करुणापूर्ण कोमल निनाद भी सुना है, किन्तु किसी से भी प्राण इस प्रकार आलोड़ित नहीं होते। यदि ये बातें कवि की ओर से न कहीं जाकर स्वदेशवत्सल मोहनलाल के मुँह से कहलाई जातीं तो फिर कहना ही क्या था *।

मुर्शिदाबाद के कुछ बुद्धिमान लोग मीरजाफ़र को कर्नेल क्लाइव का गधा कहते थे। पञ्चम सर्ग में इन्हीं गर्दभश्रेष्ठ मीरजाफ़र की राज्यप्राप्ति और सिराजुद्दौला के वध का वर्णन है। कवि ने इस सर्ग का नाम दिया है—अन्तिम आशा। यदि हम इस का नाम करण करते तो एक नाम रखते—महापातक और दूसरा—आशा का निर्वाण। इसी जगह सब आशा विलीन होगई, प्रदीप चिरकाल के लिए बुझ गया। यह सर्ग सर्वांश में एकसा मनोहर नहीं हुआ है। किन्तु स्थान स्थान पर अद्भुत है। पाठक कभी करुणा से द्रवित हो जायँगे, कभी भय से स्तम्भित। जिस समय मनुष्य कुल के चिरकलंक मीरन का एक पापी सहचर कारागार के अन्धकार को भेद कर सिराजुद्दौला के शयनकक्ष में प्रविष्ट हुआ एवं उसने दुःख से जर्जर, अर्द्धमृत अभागे युवक का सिर काटने के लिए तलवार उठाई, उस समय दयार्द्र चित्त कवि उसे उपदेश देता है:—

रे निष्ठुर, कृतघ्नकिंकर, हा! तू यह क्या करने चला?
कह, नवाब का वध करने को तू क्यों उद्यत है भला?
मरता है जो स्वयं, मारने से उसको क्या, शान्त हो,
इत्यादि

पलासी के युद्ध की भाषा कैसी हृदय हारिणी हुई है, इसका कहना व्यर्थ है। वस्तुतः ऐसी सरस, सरल और सुखपाठ्य कविता अधिक नहीं देखी गई। हमारी राय में अँगरेज़ी भाषा के साथ सरवाल्टर स्काट के

---

* पहले ये बातें कवि ने अपनी ही ओर से कही थीं। पीछे शायद इस समालोचना को पढ़कर मोहनलाल के मुह से कहलाईं।

'लेडी आफ़ दी लेक' नामक काव्य का जो सम्बन्ध है, बंगभाषा के साथ पलासी के युद्ध का वही सम्बन्ध रहेगा। तथापि हम इतना अवश्य कहेंगे कि कविवर नवीनचन्द्र सेन अँगरेज़ी भाषा के प्राणगत रस को बँगला में ढालने जाकर ज़िस प्रकार स्वजाति के कृतज्ञता-भाजन हुए हैं, बीच बीच में उसी प्रकार उन्हों ने दो एक अक्षम्य अपराध भी किये हैं। उनकी ग्राम्य दोष से दूषित कुछ पङ्क्तियों ने कहीं कहीं कविता को इस तरह बिगाड़ दिया है मानों दूध के घड़े में गोबर डाल दिया गया हो! परन्तु साथ ही कुछ आगे चलकर उन्होंने कोई कोई ऐसी सुधा-निस्यन्दिनी कविता बंग-भारती के कण्ठ में प्रदान की है जिसे देखकर उनका सब अपराध भूल जाता है।

उदाहरण लीजिए:—

शोभि छे एक टि रवि पश्चिम गगने
भासि छे सहस्र रवि जाह्नवी जीवने
(शोभित दिनमणि एक प्रतीची के अञ्चल में
सौसौ दिनमणि झलक रहे हैं गंगाजल में)

और

प्रिय केरोलाइना आमार
जेइ प्रेम अश्रुराशि आजि अभागार
झरिते छे निरवधि
तरल ना हत यदि
गाँथिताम जेइ हार तव उपहार
किछार इहार काछे गोलकन्दा-हार
(मेरी केरोलिना प्यारी,
प्रिये, आज इस दुर्विध के जो प्रेम-अश्रु ये भारी
अविरल आँखों से हैं बहते
यदि न तरल होते, थिर रहते

तो इन से जो हार गूँथ कर देता मैं उपहार
उसके निकट गोलकुण्डा का हीर-हार क्या छार ?)

पलासी के युद्ध में इस प्रकार की कविता एवं ऐसी ललित पदावली का अभाव नहीं है। मानों लेखनी ने निरन्तर मुक्ताफल उत्पन्न किये हैं। जिस समय वाल्मीकि ने कविता लिखी उस समय उन्हें दूसरे का अनुकरण नहीं करना पड़ा, जिस समय होमर ने वीररस मग्न होकर वज्र-गम्भीर स्वर से वह एक गीत गाया था उस समय उन्हें और किसी के कण्ठ का अनुसरण नहीं करना पड़ा था। किन्तु नूतन कवियोंके भाग्य में वह बात नहीं। वे प्रकृति के निकट जितना नहीं सीखते हैं, अपने पूर्वतन कवियों के निकट उसकी अपेक्षा अधिक सीखते हैं। अतएव वे अनुकरणकारी हैं। नवीन बाबू भी इसके अपवाद स्वरूप नहीं हैं। सिराजुद्दौलाके विकट स्वप्न-वर्णन में शेक्सपियर के तृतीय रिचार्ड नामक नाटक के स्वप्न-दर्शन की स्पष्ट छाया है। चाइल्डहेरल्ड के तृतीय काण्ड की कुछ कविताओं में नृत्य-गान का जैसा वर्णन है पलासी के युद्ध में उसकी छाया पड़ी है एवं बाइरन और स्काट का कितने ही स्थलों में अनुकरण किया गया है। इसे हम दोष नहीं समझते। क्योंकि इससे सभी समान दोषी हैं। दोष किं वा अपूर्णता की बात कहने पर पलासी के युद्ध का विशेष दोष किं वा अपूर्णता यही है की इसमें मनुष्य-चरित्र का विशद चित्र नहीं है। इसके पाठान्तमें कुछ अत्युत्कृष्ट भाव एवं अत्युत्कृष्ट वर्णन हृदयमें दृढ़ रूप से निबद्ध रहता है, किन्तु उत्कृष्ट अथवा अपकृष्ट कोई चरित चित्रित नहीं होता।

नवीन बाबू प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति हैं। हम विश्वास करते हैं, भविष्य में वे हमारा वह क्षोभ दूर करेंगे। वंगभाषा स्वदेशहितैषी सहृदय वंगालियों की आत्मा के समान है। वह वंगभाषा जिनके द्वारा अलंकृत हुई है हम उन पर अवश्य प्रेम करेंगे। एवं जिन पर प्रेम करेंगे उनसे आशा क्यों न करेंगे।

कालीप्रसन्न घोष।



(२)

पलासी का युद्ध ऐतिहासिक वृत्तान्त है एवं पलासी का युद्ध अनैतिहासिक वृत्तान्त है। क्योंकि इसका असल इतिहास लिखा ही नहीं गया, अतएव काव्यकार का इसमें विशेष अधिकार है। इसीलिए, जान पड़ता है, मेकाले-ने क्लाइव का जीवन चरित नामक उपन्यास लिखा है। जो हो उससे इस समय हमें कोई प्रयोजन नहीं, हम नवीन बाबू के ग्रन्थ की बात कहते हैं।

प्रथम सर्ग में नवद्वीप--निवासी राजा कृष्ण चन्द्र प्रभृति वंगीय प्रधान व्यक्ति, जगत्सेठ के भवन में बैठकर, सिराजुद्दौला को राज्यच्युत करने का परामर्श करते हैं। यह सर्ग हमारी समझ में इस काव्य के लिए विशेष प्रयोजनीय नहीं जान पड़ता। अन्ततः इसे कुछ संक्षिप्त करने से काव्य की कोई विशेष हानि न होती। इसके द्वारा काव्य का प्रधान अंश सूचित और प्रवर्तित हुआ है एवं नवीन बाबू के स्वाभाविक कवित्व का इसमें विलक्षण परिचय है। इसका एक उदाहरण दिया जाता है—

(पृष्ठ १७ और १८ कृष्णचन्द्र कृत सिराजुदौला का राज्य वर्णन)

रानी भवानी की बातें बड़ी सुन्दर हैं एवं षड्यन्त्रकारियों में उनके सब वाक्य ज्ञान–गर्भित हैं। उनमें से, हिन्दुओं और मुसलमानों में जो सम्बन्ध है, तद्विषयक निम्नोद्धृत उपमा सुनिए—

" जाति--धर्म--हेतु नहीं होता द्वेष--भय है,
यवन हमीं में मिले आज इस भाँति हैं।
पीपल में होते उपवृक्ष जिस भाँति हैं। "

षड्यन्त्र में यही स्थिर हुआ कि अंग्रेजों की सहायता से अत्याचारी सिराजुद्दौला को दूर करना होगा—सिराज के सेनापति भी उनके साथ सम्मिलित होंगे। रानी भवानी इस परामर्श की विरोधिनी थीं। अंग्रेज़ों की सहायता से जो होगा वह देववाणी के समान वाक्य-परम्परा द्वारा रानी ने समझा दिया। बाद में अपना मत इस प्रकार प्रकाशित किया:—

[पृष्ठ २८ में " मेरा क्या मत है, महाराज, ध्यान दीजिये " यहांसे 'किं वा दुःख भोगो दास्य भार का' तक]

कहना व्यर्थ है कि इस परामर्श के अनुसार काम नहीं हुआ। इसी जगह प्रथम सर्ग समाप्त होता है।

द्वितीय सर्ग से काव्य का यथार्थ आरम्भ होता है। इसी स्थान से कवित्व का उत्कर्ष दिखाई देता है। द्वितीय सर्ग से लेकर इस काव्य में कवित्व-कुसुम इस प्रकार प्रभूत परिमाण में विकीर्ण हुए हैं कि कौन स्थल उद्धृत किया जाय, समालोचक इसका निश्चय नहीं कर सकता। इच्छा होती है, सभी उद्धृत करदें। इस प्रकार अपर्याप्त परिमाण में जो ये दुर्लभ रत्न वितीर्ण कर सकते हैं वे निस्सन्देह सच्चे धनी हैं।

कटवा से अंग्रेज सैनिकों के नदीपार होने का चित्र तपन चित्रित फोटोग्राफ के समान है एवं फोटोग्राफ में जो अद्भुत रश्मि नहीं होती वह इसमें है—

[द्वितीय सर्ग के आरम्भ से " विज्ञापन देरहा सगर्व ब्रिटिश-विक्रम का " तक]

सैनिकों का केवल वाह्यदृश्य ही नहीं, अन्तरिक भाव भी सुचित्रित हुआ है। गंगा पार होकर सेनापति क्लाइव पेड़ के नीचे बैठे हुए कर्तव्याकर्तव्य की चिन्ता करते हैं। भावी घटना की अनिश्चयता एवं अपनी दुःसाहसिकता की पर्यालोचना करके वे शंकित हो रहे हैं। इस दशा में ब्रिटिश राज लक्ष्मी ने उनको दर्शन देकर आश्वस्त किया, वह चित्र कविकी यथार्थ सृष्टि है। राजलक्ष्मी को कवि ने एक अपूर्व महिमा और शोभा से परिमण्डित किया है।

[द्वितीय सर्ग से राजलक्ष्मी का रूप वर्णन, पृष्ठ ४४]

उसकी वाणी आकाश प्रसूत मेघ-ध्वनि के समान हमारे कानों में प्रवेश करती है।

(पृष्ठ ५१ में "राजों के भी राज महाराजों के नेता" यहाँ से
"देख वत्स, यह विकट परीक्षा-स्थल समक्ष है" तक)

क्षुद्र क्षुद्र विषयों के वर्णन में कवि का कवित्व प्रकाशित हुआ है। निम्नोद्धृत छोटा सा चित्र देखिए—

(पृष्ठ ५३ में "सजी सजाई नाव लगी थी नदी-तीर पर" यहाँ से
" गाते थे जय गान जयति जय जयति ब्रिटिश जय " तक)

इस नाव के नाविकों का गीत परम मनोरम—बाइरन के अनुरूप—है। उसे सुनकर बाइरन कृत नाविक दस्युओं के गीत की याद आती है।

(" चिर स्वतन्त्रता के सागर में " इत्यादि गीत)

तीसरे सर्ग के आरम्भ में सिराजुद्दौला के शिविर में नृत्य-गान की धूम मच गई है। इसी समय सहसा अंग्रेज़ों का वज्र गरज उठा। फिर भी बाइरन कृत वाटर्लू के युद्ध की पूर्व रात्रि का वर्णन याद आता है—

There was a sound of revelry by night, etc.

गायिका का निम्न लिखित वर्णन भी बाइरन के योग्य है—

" वाणी-वीणा से बढ़ा चढ़ा स्वर मधुमय,
है निकल रहा करके सकम्प अधर द्वय। " इत्यादि।

तोप के शब्द से नृत्य-गान भंग होगया। सिराजुद्दौला भवितव्यता की चिन्ता में डूब गया। उसकी बातों से उसका स्वार्थपर, अध्यवसाय-विहीन दुर्बल भीत चित्त अतिशय निपुणता के साथ प्रकटित हुआ है। इस काव्य में कवि ने चरित्र के आश्लेपण की शक्ति का वैसा परिचय नहीं दिया है सही, किन्तु इस स्थान पर विश्लेषण शक्ति का विलक्षण परिचय दिया है।

नवाब अपने कर्म्मफल और चरित्र-दोष की चिन्ता करके भय से विमूढ़ हो कर मीरजाफ़र की शरण लेने के लिए दौड़ा। किन्तु भय के कारण मूर्च्छित हो कर गिर पड़ा। उसी समय उसकी एक स्नेहमयी बेगम उसे उठा कर अश्रु-वृष्टि करने लगी। इस ओर एक ब्रिटिश युवक—

" मेरी केरोलीना प्यारी ! "

यह सुन्दर गीत सुमधुर स्वर से गाने लगा । इसी प्रकार रात बीती ॥ तृतीय सर्ग समाप्त हुआ ।

इस काव्य का एक विशेष दोष, कार्य्य की मन्थर गति है । इसमें कार्य्य बहुत थोड़ा है, जो है भी उसकी गति बहुत मन्द है । छोटी सी घटना के विस्तीर्ण वर्णन से सर्ग-पूर्ति होती है । प्रथम सर्ग में राजाओं ने परामर्श किया, इतना ही; द्वितीय सर्ग में अंग्रेज़ी सेना गंगा पार करके पलासी के क्षेत्र में उतरी, इतना ही; तीसरे सर्ग में कुछ भी नहीं हुआ । किन्तु कवि की ओजस्विनी कविता के मोह-मन्त्र से मुग्ध हो कर इन सब दोषों को देखने का अवकाश नहीं रहता ।

चतुर्थ सर्ग में पलासी का युद्ध है । युद्ध का वर्णन बहुत सुन्दर है--

("बजा ब्रिटिश-रण-वाद्य इसी क्षण करके घन घन घोर "

इत्यादि ।)

इसके बाद मोहनलाल के जो वीर वाक्य हैं वे और भी सुन्दर हैं । सत्य इतिहास में यह कीर्तित है कि हिन्दू सेनापति मोहनलाल पलासी के मैदान में क्लाइव को प्रायः विमुख कर चुका था । यदि मीरजाफ़र विश्वासघात न करता तो भारत-साम्राज्य आज कौन भोग करता, यह नहीं कहा जा सकता । यवन सेना को पलायनोद्यत देख कर मोहनलाल ने उसे लौटाने के लिए जो सब बातें कही थीं, उन्हें क्या हम उद्धृत करें ? नहीं, पाठकों की इच्छा हो तो अकेले में बैठ कर पढ़ें ।

मोहनलाल की बातों से सेना फिर लौटी । फिर लड़ाई होने लगी । किन्तु इसी समय शठ मीरजाफ़र के परामर्श से नवाब ने लड़ाई रोकने की आज्ञा दी । नवाब की सेना युद्ध से विरत हुई । यह देख कर अंग्रेज़ोंने दूना ज़ोर लगाया--

(पृष्ठ १०० में "त्यों ही एक बार टलपाया" से "गया अस्त होने यवनोंका गौरव-रवि सम्पूर्ण ." तक)

ब्रिटिश सेना की जीत हुई । सूर्य्यास्त हुआ । कवि ने सूर्य्य को साक्षी

करके अपने मन की कुछ बातें लिखी हैं। किन्तु इस प्रकार के उपाख्यान-सम्बन्धी काव्य में एतादृश दीर्घ मन्तव्य हमारी समझ में उपयुक्त नहीं। चाइल्ड हेरल्ड में बाइरन ने सर्वत्र इसी प्रकार अपने मन्तव्य पद्यबद्ध करके लोगों को मुग्ध किया है। किन्तु चाइल्ड हेरल्ड वर्णन मूलक काव्य है और पलासी का युद्ध उपाख्यान मूलक है। चाइल्ड हेरल्ड में जो बात शोभित होती है वह पलासी के युद्ध में नहीं शोभित होती। इस काव्य में कार्य्य की गति का विरोध करना उचित नहीं हुआ। किन्तु इस काव्य का कार्य्य अति मन्दगामी है यह पहलेही कहा जा चुका है।

पञ्चम सर्ग में विजेताओं का उत्सव, सिराजुद्दौला का कारावास और वध वर्णित है।

'मेघनाद–वध' या 'वृत्र–संहार' के साथ इस काव्य का तुलना करने से कवि के साथ अन्याय करना है। इन दोनों काव्यों की घटनाएँ काल्पनिक हैं; अति प्राचीन काल में घटित होने से कल्पित एवं सुरासुर, राक्षस वा अमानुषिक शक्तिधारी मनुष्यों के द्वारा सम्पादित हैं। सुतरां कवि इस क्षेत्र में यथेच्छ विचरण करके अपनी इच्छा के अनुसार सृष्टि कर सकता है। पलासी के युद्ध की सब घटनाएँ ऐतिहासिक और आधुनिक हैं। एवं हमारे समान सामान्य मनुष्यों द्वारा सम्पादित हैं। अतएव कवि इस स्थान में शृंखलाबद्ध पक्षी की तरह पृथ्वी पर बद्ध है, वह आकाश में उड़कर गान नहीं कर सकता। इसलिए काव्य के विषय निर्वाचन करने के सम्बन्ध में हम नवीन बाबू को सौभाग्यशाली नहीं कह सकते।

तब इस काव्य में घटना–वैचित्र्य और सृष्टि–वैचित्र्य का संगठन करना कवि के लिए अवश्य साध्य था। इस सम्बंध में नवीन बाबू ने वैसी शक्ति नहीं दिखलाई। वृत्रसंहार का एक विशेष गुण यह है कि उस काव्यमें उत्कृष्ट उपाख्यान है, नाटक है और गीति अतीव प्रबल है। नवीन बाबू वर्णन करने और गीति कविता लिखने में एक तरह से मन्त्रासिद्ध हैं। इसीसे पलासी का युद्ध इतना मनोहर हुआ है।

इन सब विषयों में उनकी लेखशैली में वाइरन की लेखशैली का विशेष सादृश्य दिखाई देता है। चरित्र के आश्लेषण में दोनों में से एक ने भी कोई शक्ति नहीं दिखलाई, विश्लेषण में दोनों ही में शक्ति पाई जाती है। नाटक के जो प्राण—हृदय हृदय के घात-प्रतिघात—हैं, दोनों में से किसी के काव्य में उनका कोई चिन्ह नहीं। किंतु दूसरी ओर दोनों ही अत्यंत शक्तिशाली हैं। अंग्रेज़ी में वाइरन की कविता तीव्र, ओजस्विनी, ज्वालामयी अग्नि के समान है। उसके हृदय-निरुद्ध भाव आग्नेय-गिरि-निरुद्ध अग्नि-शिखा के समान जिस समय छूटते हैं उस समय उनका वेग असह्य होता है। वाइ-रन ने स्वयं एक स्थान पर किसी नायक के प्रणय-वेगवर्णन के बहाने नायक के मुहँ से जो कुछ कहलाया है उसकी अपनी कविता के वेग और नवीन बाबू की कविताके वेग के सम्बन्ध में वही कहा जा सकता है:—

But mine was like the lave flood
    That boils in Etna's breast of flame.
I cannot praise in pulling strain.
    Of lady-love and beauty's chain.
If changing cheek and scorching vein.
    Lips taught to writhe but not complain.
If bursting heart, and madd'ning brain.
    And daring deed and vengeful steel
    And all that I have felt and feel
Betoken love, that love was mine:
    And shown by many a bitter sign.

नवीन बाबू का भी स्वदेश-वात्सल्य-स्रोत जिस समय उमड़ता है उस समय वे भी रख ढँक कर कहना नहीं जानते। वे भी गैरिक निस्राव की तरह वर्णन करते हैं। यदि ऊँचे स्वर से रुदन, यदि आन्तरिक मर्म्म-भेदी कातरोक्ति, यदि भय-शून्य तेजोमय सत्य-प्रियता यदि दुर्वासा प्रार्थित क्रोध देशवात्सल्य का लक्षण है तो वह देशवात्सल्य नवीन बाबू में और

उसके अनेक लक्षण इस काव्य में पाये जाते हैं। वाइरन की तरह नवीन वाबू वर्णन करने में अत्यन्त क्षमताशाली हैं। वाइरन की तरह उनमें भी शक्ति है कि वे दो चार वातों में ही उत्कृष्ट वर्णन की अवतारणा कर सकते हैं। क्लाइव का नौकारोहण इसका दृष्टान्त है। किन्तु अनेक समय नवीन वाबू इस प्रथा का परित्याग करके वर्णन में व्यर्थ समय खोते हैं।

जो हो, कवियों में नवीन वाबू को हम अधिकतर ऊँचा आसन दे सकें या न दे सकें उनको वँगला का वाइरन कह सकते हैं। यह प्रशंसा सामान्य प्रशंसा नहीं है। पलासी का युद्ध वँगला के साहित्य-भाण्डार में एक अमूल्य रत्न है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

उपसंहार में पाठकों से हम एक वात कहेंगे। पलासी के युद्ध का हमने थोड़ा सा परिचय दिया है। यदि वे इसका यथार्थ परिचय चाहते हों तो स्वयं उसे आद्योपान्त पढ़ें। वंगाली हो कर जिसने वंगाली का आन्तरिक रोदन न पढ़ा उसका वंगाली जन्म व्यर्थ है।

वङ्किमचन्द्र चट्टोपाध्याय।

श्रीगणेशाय नमः

पलासी का युद्ध

प्रथम सर्ग

(मुर्शिदाबाद—जगत्सेठ का मन्त्रणागार)

आधी रात हो रही है, मौन महीतल है;
सघन घनों से घिरा घोर नभस्थल है।

करके विदीर्ण उसे—नाग ज्यों करे कला—
रह रह कर कौंधती है चला चञ्चला।

वंग-दशा देखने को मानों देवबालाएँ—
खोल कर गगन-गवाक्ष—रूपमालाएँ—

मान के सिराज-भय वन्द कर लेती हैं,
रूप-ज्योतियों से चकाचौंध लगादेती हैं।

मेघों को हँसाकर निमेषभर, अन्त में—
बिजली बिलाजाती है भय से अनन्त में !

यवनों का अत्याचार देख कर पापपूर्ण,
शुद्ध मन हाय ! कहीं हो न जाय तापपूर्ण ॥

मेघों में छिपाकर इसी से आप को अहा
चिन्ताकुल, मौन उडुबाला-कुल हो रहा !
रोदन प्रजा का और राजा का विलास-गान,
बधिर बना रहे हैं घोर यामिनी के कान !

धरा को धँसाकर नभोपरि न फेरें हाथ,
भीत हो इसीसे घन गर्जते हैं एक साथ !
घोर घहराने से काँप उठती है धरा,
होती है जिससे निशा द्विगुण भयंकरा।

अम्बुदों के असित वितान के तले अड़ी—
निश्चल, शिलामयी-सी, वृक्षराजि है खड़ी।
गंगा में उठती नहीं एक भी तरंग-सी,
हो गई है आज जल की भी गति भंग-सी !

रुक-सा रहा है अहा ! नित्य कालस्रोत भी,
निश्चल प्रकृति भी है शून्य ओतप्रोत भी !
साँस-सी रुकी है महास्तब्ध धरातल की,
सुन के गभीर घोषणा-सी मेघदल की।

दैव का प्रकोप नील नीरद जताते हैं,
पापी, अनाचारियों की छाती दहलाते हैं।
हो रहा दिगन्त महा कालिमा-कवल है,
तम में अनन्यकाय शून्य-धरातल है !

लीलकर मानों इस विश्वचराचर को,
तम ही विराजता है देखिए जिधर को।

आती हैं विभीपिका की मूर्तियाँ ही दृष्टि में,
शव-से उगलती समाधियाँ हैं सृष्टि में!

वे हैं मुँह बाये, दाँत काढ़कर चलते,
आँखें खोलते ही मानों प्राण हैं निकलते!

भूतल श्मशान-सा है, घूमती हैं काकिनी;
नंगी तलवारें लिये नाचती हैं डाकिनी।

वंग के गले से लगी कालनिशा रोती है,
(किन्तु मौन, कारण? सिराज-भीति होती है)

रोती है मौन वंगजननी भी विघात से,
भींगता है शस्य-वस्त्र ओस-अश्रुपात से।

झिल्लियाँ भी मौन हैं, रुकी है वायु की भी गति;
लोग यत्न सोचते हैं, काम नहीं देती मति।

पुत्र माँ की छाती पर, शय्या पर दम्पती,
पति प्राण-चिन्ता में, सतीत्व-चिन्ता में सती!

खेद खोने वाली नींद पाकर सिराज-भय,
कौन जाने कहाँ गई छोड़ कर वंगालय।

वंग-राजधानी यही सारी रात राजती,
शारदी निशा-सी दीप-तारों भरी आजती।

होती निशा-सुन्दरी प्रफुल्ल फूल-हारों से,
बढ़ती प्रमोद-नदी दोनों ही किनारों से।

पौरजन शान्ति-सुख-सागर में डूबते,
देवों के समान कभी थकते न ऊबते।

क्यों है पुरी आज वही चिन्ता-सिन्धु में निमग्न
हो रहा है हाय ! क्यों समस्त समुत्साह भग्न ?

जिसका सु-गान सुन गंगा नाचती रही,
हो रही न जाने आज कैसी देखिए, वही !

कल्पने, आ, एक बार चञ्चला-प्रकाश में,
वैजयन्त-धाम ऐसे सेठ के निवास में।

भारत-विदित ज्यों कुवेर-कोश-थल है,
रत्नासनासीन जहाँ इन्दिरा अचल है।

नृत्य, गान, वाद्य अनिवार्य्य जहाँ सर्वदा,
अमृत बहातीं कलकण्ठियाँ जहाँ सदा;

कूकती हैं मत्त कोकिलाएँ ज्यों वसन्त में,
फैलता है गन्धामोद आप ही दिगन्त में।

देखें, चल, घुस के सशंक अन्धकार में,
आज सेठ के उसी सु-धन्य धनागार में।

यह क्या, ऐं, मौन है सितार, वेणु, वीणावाद,
करता मृदंग नहीं मेघ-सा गभीर नाद।

आवाहन पूर्वक बुला के मेघमाला को,
गाता नहीं कोई मेघ-रागिनी रसाला को।

नंगी तलवारें लिये द्वारपाल द्वार द्वार–
टहल रहे हैं मौन, छा रहा है अन्धकार।

एक भी कपाट कोई अर्गला बिना नहीं;
जलता प्रदीप एक दीखता नहीं कहीं।

प्राचीरादियुक्त गृह अन्धकार में छिपा,
विरल विजन मानों कालिमा से है लिपा।

एक मात्र रश्मि एक कक्ष के झरोखे से–
निकल रही है, मानों भूल पड़ी धोखे से!

आती तमोराशि में है क्षीण दीप्तिधारा-सी,
टूट कर नभ से गिरी है एक तारा-सी।

आती वह रश्मि जिस क्षुद्रपथ से यहाँ,
चलकर कल्पने, उसी से आज तू वहाँ।

कह, जब सारी पुरी डूबी तम-पक्ष में–
क्यों यह प्रकाश भला एक इस कक्ष में?

कोई महामंत्र सिद्ध करता क्या आज है?
देख, इस रातमें सजाता कौन साज है?

विस्मय है, वंग का अदृष्ट जिन के है हाथ,
जिन से है वंग-शिर ऊँचा गुरुता के साथ।

सिंहासनासीन होते जो हज़ारों से घिरे,
बैठे आज क्यों हैं यों अकेले में वहीं निरे ?

मुख पर उदासी है, सोच है हृदय में,
चिन्तित इकट्ठे हुए ये किस विषय में ?

भीत पर, चित्र में, नृमुण्डमाल्यधारिणी–
लोलजिह्वा भैरवी है अट्टहासकारिणी।

नम्रमुख पाँच वीर बैठे ये अडोल हैं,
दक्षिण करस्थ किये दक्षिण कपोल हैं।

साँस आती है या नहीं, चिन्ता के अयन हैं;
कुटिल कुभावना से कुञ्चित नयन हैं।

निर्निमेष लोचनों से, एकमन से, सकष्ट,
पढ़ते शिलांकित-सा वंग का अदृष्ट स्पष्ट–

दैव का लिखा, या मानों कल्पना के यान में–
मन से सवार हो के, भान खो के ध्यान में,

काल की यवनिका को खींच पल पल में,
तैरते हैं वंग के भविष्य-सिन्धु-जल में।

एक नारीमूर्ति मौन बैठी, स्वर्ण-सा है वर्ण;
दीर्घ ग्रीवा, सौम्य नासा, छू रहे हैं नेत्र कर्ण।

मानों शुक्रतारा वर व्योम चित्र-पट पर,
शोभित है ज्ञान, मान मुख से प्रकट कर।

फिर वही नेत्र, पलकों में जो सदा प्रसन्न,
होते स्नेहनीर से हैं मञ्जु, मृदु भावापन्न।

हाल बरसाते क्रोध-गरिमा-गरल हैं,
हाल ही दया से द्रवीभूत हैं, सरल हैं।

विश्वव्यापिनी है जान्हवी-सी जो दया स्वतः,
अमृत बहाती सर्व वंग में इतस्ततः।

ऐसे स्निग्ध नेत्रों से, गभीर मुख से तथा—
हो रही है व्यक्त आज चिन्ता-भार की व्यथा!

कर पै कपोल वाम, खिन्नता है मन में;
शोकरता जानकी हों ज्यों अशोक वन में।

एक ओर बैठा एक नीरव यवन है,
आसन स्वतन्त्र तथा तेजसी वदन है।

मन में दुरूह मानों भावना है घूमती,
लम्बी और श्वेत डाढ़ी आप पैर चूमती।

दृष्टि कभी शून्य कभी भूमि को टटोलती,
लम्बी साँस छोड़ने में डाढ़ी-मूँछ डोलती।

ये सब इकट्ठे क्यों हुए हैं दूर दूर से?
निभृत निवास में क्यों बैठे चिन्ताचूर-से?

वंग के विमल कुछ तारे ये गिनें चुनें,
आज किस सोच की घटा से हैं घिरे, सुनें?

सैरिन्ध्री स्वरूपा वंग, कीचक यवन है;
लूट लेना चाहता क्या पापी धर्म्म-धन है ?

कैसे उसे दण्ड दिया जाय, यही मन्त्रणा—
करते हैं पञ्च भ्राता पाके मर्म्म यन्त्रणा ?

किं वा राज्य-प्राप्ति-हेतु, खेदयुक्त मन में—
कृष्णासह सोच करते हैं तपोवन में ?

कौन कहे, ये सब व्रती हैं किस व्रत में ?
कैसा वर चाहते हैं श्यामा से निभृत में ?

साधारण चित्त का भी चलता नहीं पता,
राजों के अभीष्ट को है कौन बता सकता ?

दीर्घ श्वास छोड़, मुख ऊँचा कर अपना—
(दूर हुआ भावना का मानों सब सपना)

साथियों को देख, देखो, बोला वह मन्त्रीवर·
(मानों बहा रुद्रगिरि-निर्झर गरज कर)

"महाराज कृष्णचन्द्र, सोच मैं ने है लिया;
सुनो, यह काम कभी होगा न मेरा किया।

जन्म से शरीर अन्न जिसके से है पला,
कैसे लूँ कृतघ्नतासि तद्विरुद्ध मैं भला ?

काटूँ हाय ! छाया-वृक्ष छायाप्राप्त कैसे मैं ?
किं वा करूँ नीच कर्म्म, क्रूर साँप जैसे, मैं !

हाय ! जिस गाय के थनों से किया दुग्ध पान,
कैसे बदले में करूँ उसको विष-प्रदान ?

धर्म्म आज भी है धर्म्म, पाप आज भी है पाप;
धर्म्म छोड़ पाप करूँ कैसे, सोच लीजे आप ?

नरक समान है कृतघ्नचित्त पापारूढ़;
खाता जिस कर से है काटे उसे कौन मूढ़ ?

अल्प उपकार भी जो करता है प्यार से,
पाप लगता है उसके भी अपकार से।

हो कर मैं मन्त्री करूँ उसका अहित क्या ?
राजद्रोह और सो भी मुझ को उचित क्या ?

अन्त भी अनिश्चित है, सिद्ध होगी भूलही;
पाप-परिणाम सदा होता प्रतिकूल ही।

सिंहासन-भ्रष्ट कर दुर्विध नवाब को,
कौन अभिसन्धि सिद्ध होगी सो जवाब दो ?

राजदण्ड ले जो और सिद्ध करे कालदण्ड,
तो फिर उपाय ? हाय ! 'नादिर' सा क्रूर, चण्ड—

कोई 'शाह' दिल्ली लूट आवे जो यहाँ सगर्व;
रक्खोगे क्यों कर फिर मान, धन, प्राण सर्व ?

लूट ले सभी कुछ जो छोड़ कर प्राण मात्र ?
बदले में हमको दे दास्य-भार, भिक्षा-पात्र !

सालता उसी को है कि लगता जिसे है शेल,
दूसरों का रोदन है लौकिक रुदन, खेल।

एक का है लक्ष्य होता अन्य के हिये का तीर
"जिसे न बिवाँई फटी जानें क्या पराई पीर?"

मन्त्रिवर, क्या कहूँ मैं, कहते जी जलता,
छाती फटती है और खून है उबलता।

अनलस्फुलिंग रोमरन्ध्रों से निकलते,
विद्युत-प्रवाह-से हैं नाड़ियों में चलते।

और क्या कहूँ मैं, रख बेगम का छद्मवेश,
करके दुरन्त मेरे अन्तःपुर में प्रवेश;

कुल को, जो भारत-प्रदीप्त, भानु-सम है,
दे चुका कलंक रूप कालिमा अधम है।

हाय! जगत्सेठ की विभवकथा देश में;
हो रही प्रसिद्ध है कहावत के वेश में।

सेठ का है नाम लक्ष मुद्रा समकक्ष आज,
और तो क्या, बद्ध ऋण-रज्जु में स्वयं सिराज।

जान्हवी ज्यों, सौ मुखों से नित्य व्यवसाय-स्रोत,
भरता है धन से समुद्र-कोश ओतप्रोत।

किन्तु वही जगत्सेठ, छाती फटती है हाय!
आज अपमान से है नम्र मुख, दग्धकाय।

किन्तु है प्रतिज्ञा यह मेरी, क्यों न पृथ्वी भर–
पक्ष में नवाब के हो; किं वा क्षुद्रजीवी नर–
क्या हैं ? उसे अभय प्रदान करें सारे देव,
तौ भी सुनो, तौ भी यह कालिमा अवश्यमेव–
धोऊँगा नवाब के ही रक्त से मैं मानी चिर,
जो हो फिर भाग्य में करें जो माँ भवानी फिर।

चाहे शरच्चन्द्रिका भले ही कभी भ्रष्ट हो
सम्भव नहीं जो सेठ-गरिमा विनष्ट हो।

घोर प्रतिहिंसानल जलती है मन में,
जलती हो दावानल जैसे किसी वन में।

इसको सिराज के ही रक्त से बुझाऊँगा,
मेरी है प्रतिज्ञा, तभी चैन कुछ पाऊँगा।

और क्या कहूँ, प्रतिज्ञा मैं कभी न छोड़ूँगा
सिद्धि-हेतु व्योम के भी तारे आप तोड़ूँगा

कार्य्य हो तो मेरु को भी धूल में मिलाऊँगा
वज्राघात झेलूँगा, भुजंगों को खिलाऊँगा,

होंगे यदि पापी के शरीर में सहस्र प्राण,
तो भी नहीं पा सकेगा मुझ से कदापि त्राण

छायापथ-सा है स्वच्छ मार्ग देशोद्धार का,
आगे बढ़ो, काम नहीं सोच या विचार का।

अन्यथा सदैव भोगो दासता के दुख को,
लेकर कलंक मैं दिखाऊँगा न मुख को।

जीवन समर्पण करूँगा इसी प्रण में,
करके दिखाऊँगा कहा जो एक क्षण में।

एक प्रतिहिंसा, प्रतिहिंसा प्रतिहिंसा सार,
और कुछ इष्ट नहीं, इष्ट वही बार बार।"

मौन हुआ सेठ आँखें आग बरसाती थीं,
बद्ध मुष्टियाँ भी रोष-राग दरसाती थीं।

काटने से अधर हुए थे रुधिराक्त प्राय,
काँपती थी सारी देह—"स्वप्न के समान हाय!"—

बोले राजवल्लभ यों—"पामर के पापाचार,
मानवप्रकृति-योग्य हैं नहीं किसी प्रकार।

थोड़े ही दिनों में, हाय! रोम होते हैं खड़े,
देश में नहीं हुए हैं पाप क्या बड़े बड़े?

पाप का प्रवाह वृद्धि पाता दिनोंदिन है,
अन्त में रुकेगा कहाँ, कहना कठिन है।

यही हाल थोड़े दिन जो रहा, हुआ न यत्न,
तो न वंगकोश में बचेगा हा! सतीत्व-रत्न।

वंगवासियों का कुल शील, मान होगा नष्ट,
शंका अब भी है, सब पा रहे हैं प्राण-कष्ट।

करते हैं लोग चारों ओर घोर हाय हाय,
कैसे बचें प्राण, धन, सूझता नहीं उपाय।

क्या कहूँ मैं, जैसा कष्ट देता मुझे दुष्ट है,
रखता कुदृष्टि क्रूर, आदि से ही रुष्ट है।

पुत्र कृष्णदास हुआ निष्कासित वंश सह,
आश्रय न देते अँगरेज़ तो न जानें हह !

होती क्या हमारी दशा ? प्राण-पुत्र-पत्नी हीन
मैं हूँ आज पत्रशून्य-ग्रीष्म-तरु-तुल्य दीन।

अत्याचार सोच कलकत्ते की तबाही के,
होते खड़े रोंगटे हैं काँटे यथा साही के।

पुत्र को न मारा उस बार दुष्ट ने सही
छोड़ेगा न किन्तु स्वस्थ हो के, दृष्टि है वहीं।

सम्प्रति विपत्तियों का चारों ओर भय है,
करता इसीसे नहीं मेरा कुलक्षय है।

सन्ध्या है कालि की, यही अन्तिमाशालोक है;
चूकी जहाँ दृष्टि बस अन्धकार शोक है।

घेरे हैं नभ को आज मेघ जैसे चारों ओर,
घेर लेंगी सारा देश चिन्ता की घटायें घोर।

गर्जन करेगा घन-नाद से नृशंस ही,
रोकेगा महा झड़ जो होगा वह ध्वंस ही।

विष है अभी से इस पन्नग में इतना
पूर्ण पुष्ट होने पर होगा कहो कितना ?

प्राण लेगा कितनों के जीता यदि छोड़ोगे;
किं वा विषदन्त शीघ्र इसके न तोड़ोगे।

आँख मूँद बैठने में मंगल नहीं है अब;
राज्यच्युत करने का सोचो सदुपाय सब।

लेकर उदार अँगरेज़ों से सहायता,
काढ़ो इस कण्टक को, छोड़ो निरुपायता।

होगी कब देश पर दैव की सुदृष्टि हाय !
जो हो किन्तु निश्चित है मेरी यही एक राय–

साधु मीरजाफ़र को राज्य-भार दीजिए;
पाकर सुशान्ति सुख-निद्रा लाभ कीजिए।"

राजा राजवल्लभ ने ऐसा मत जो दिया,
'साधु मीरजाफ़र' का धड़क उठा हिया।

"आपने यथार्थ कहा" बोले कृष्णचन्द्र भूप–
"होगा कौन ऐसा मूढ़ होगा जो न सोचे रूप।

सोचे–घर बैठा हूँ–जो व्याघ्र-मुख में पड़ा,
होगा कहाँ, कौन, और मूढ़ उससे बड़ा ?

आप ही अदूरदर्शी युवक नृशंस है,
हिंसक है, दाम्भिक है, मानो नया कंस है !

साथ ही समुद्धत हैं साथी सब संग के,
विष-फल फलाते हैं भाग्य में जो वंग के।

नंगी तलवार लिये नाचता है अत्याचार,
देश है श्मशान हुआ, गूँजता है हाहाकार!

जिस दिन मराठों ने विप्लव मचाया था,
कैसा अनाचार लगातार यहाँ छाया था?

जाते हैं दवाग्नि रूप दस्यु ये जहाँ जहाँ,
अग्निदाह, रक्तपात, लाते हैं वहाँ वहाँ।

व्याघ्र-भय भूल प्रजा छिपती है वन में,
जैसे व्याध-भीत मृग जाते हैं गहन में।

किन्तु अलीवर्दीख़ाँ नवाब, स्वर्ग में हैं जो,
अमर तथापि यहाँ लोक वर्ग में हैं जो।

वंगदेश उज्वल था पाके प्रभा जिनकी,
क्या न करते थे व्यथा मेटने को इनकी?

वृद्ध थे तथापि भस्माच्छन्नवह्नि सम थे,
न्यायी थे, उदार थे, हाँ, युद्ध में वे यम थे।

सिंहासन उनसे था इन्द्रासन के समान,
बैठा अब एक वहाँ घृण्य और नीच श्वान।

कामिनी का अंक-मणि-सिंहासन साज आज,
बैठते हैं अद्भुत सभा में वंग-रंग-राज।

राजदण्ड मद्यपात्र, जिसकी सुकान्ति से-
घूमते हैं तीनों लोक आँखों में अशान्ति से।

कन्धे पर उत्तरीय वामा-बाहु हार है,
प्रेमकथा मन्त्रणा है, रूप उपहार है।

अर्थी अभिलाषा व्यक्त करते हैं गान में,
सौ सौ वासनायें भरी एक एक तान में।

किन्तु क्या करोगे सखे, बंगविधि वाम है,
माता चिरदुःखिनी है, सुख का न नाम है।

सेन कुलांगार किस कुक्षण में गौड़ेश्वर-
सप्तदश अश्वारूढ़ यवनों से भागा डर।

बंग के गले तभी से दास्य-शृंखला पड़ी,
तोड़ें इसे आर्य्यगण होगी क्या ऐसी घड़ी?

जानें भवितव्य इसे किं वा यह शृंखला-
के के बार होगी नई जेतृभेद से भला!

कौन कहे, कौन जानें, पानीपत के के बार,
भारत के भाग्य का करेगा और भी विचार।

गत हैं पठान, गत प्राय ये मुग़ल हैं,
शृंखलित किन्तु हम आज भी अबल हैं।

सदियाँ गई हैं, किन्तु दैव अब भी है क्रूर;
भारत की दासता न जानें कब होगी दूर।

किन्तु क्या करोगे, फिर पूछता हूँ मैं यही,
क्या करोगे? मन्त्र उस बार करके सही;

पूर्णियाँ के पापी को मिलाया, हुआ फल क्या?
पापमयी आशा का नहीं था वह छल क्या?

कामी सुरासक्त हुआ युद्ध में यों काल-लक्ष—
व्याध-बाण से ज्यों क्रौञ्च आदि कवि के समक्ष।

जलते सभी हम नवाबकोपानल से,
बचे हैं न जानें किस पूर्व-पुण्य-बल से।

किन्तु यही सोच कण्टकों में रहें कैसे हम?
चिन्ता धन-प्राण की सदा ही सहें कैसे हम?

जाता दिन दुःख में, अनिद्रा में है जाती रात,
हम को मृदु शय्या भी होती शरशय्या ज्ञात।

भूत-भयभीत जन घोर तम में यथा,
निज पद शब्द से ही चौंकते हैं सर्वथा।

होके तथा कण्टकित मृदु भी समीर से,
काँपते रहें क्या हम आकुल अधीर-से?

जान कर लाक्षागृह में जो करते हैं वास,
सम्भव है कैसे उन्हें पावक से हो न त्रास?

इससे सहायक कर श्वेतद्वीपदल को,
राज्यच्युत कीजे इस पापी क्रूर खल को।

देखो, मीरजाफ़र को राज्य-भार देने को,
* अन्धकूप-हत्या का बदला तथा लेने को।

आया है ब्रिटिशसिंह वीर अवतार ज्यों,
कर के कलकत्ते की रक्षा वज्र सार ज्यों।

हुगली-समर में नवाब-सैन्य शीघ्र नाश,
पा रहा है शिशिर विभेदी भानु-सा प्रकाश;

कर के विलोड़ित नवाब-सैन्य-पारावार,
आँधी यों उठाई थी कि भागा था नवाब हार।

साहस-विकास देख निर्भय हृदय से,
तृण ही दबाते बना दाँतों तले भय से।

देखते ही देखते हराये फरासीसी फिर,
करती थी काँप कर मानों धरा सी सी फिर!

देख समरानल किनारे डरीं गंगा भी,
धीरे बहीं मानों वे तरंग-भंग-रंगा भी!

दसवें दिन, कङ्काली जैसे व्योम-सर में,
ब्रिटिश-पताका उड़ी चन्दननगर में।

सुनते हैं, फ्रेंच-सम शूर कहीं हैं नहीं,
दूर किया क्लाइव ने गर्व उनका वहीं।

---

* Black Hole.

सैन्य सह उनसे मिलें जो वंग-सेनापति,
पावे तो समुद्र या कृशानु वायु की-सी गति।

बोलो, फिर क्लाइव से कौन पार पावेगा ?
डूबेगा, जलेगा या नवाब उड़ जावेगा।"

होके कुछ तर्क यही मत सब का रहा,
"रानी का मत क्या ?" तब कृष्णचन्द्र ने कहा।

परदे के भीतर वे श्रान्त हुई बैठी थीं,
सचमुच भवानी-सी शान्त हुई बैठी थीं।

अचल शरीर मानों साँस भी न लेती थीं,
अपलक आँखें शून्य दृष्टियाँ ही सेती थीं।

वंग-माता राजती थीं मूर्ति बनी जब यों,
"रानी का मत क्या" सुना स्वप्न में-सा तब यों।

"रानी का मत क्या" सुन, जाग मानों सोते-से,
बोली श्रीभवानी रानी वाक्य सुधा-सोते से—

"मेरा क्या मत है, महाराज कृष्णचन्द्र राय,
सुनने की इच्छा है, सुनो तो यह मेरी राय—

सब ने नवाब का जो चित्र दिखलाया घोर,
जानती हूँ मैं कि उससे भी वह है कठोर।

कैसा ही विकृत भाव क्यों न दिखलाया जाय,
किन्तु उससे भी वह अधिक बुरा है हाय !

निर्दय विधातः ! किया वंग ने है कौन पाप ?
सहना पड़ा जो उसे आज ऐसा तीक्ष्ण ताप !

आप ही मैं अबला हूँ, दुर्बल हृदय है,
क्या कहूँ परन्तु यह मन्त्र पाप मय है।

कृष्णनगराधिप के योग्य नहीं क्रान्ति यह,
ऐसे षडयन्त्र की हुई क्यों भला भ्रान्ति यह ?

कायरों के योग्य इस हीन मन्त्रणा में हाय !
जान नहीं पड़ता है कैसे हुई एक राय !

उत्तेजित कैसे हुए वीर आप-से कहो ?
अबला हूँ किन्तु मुझे होती है घृणा अहो !

गौड़पति लक्ष्मण की भीरुता से ऐसे कष्ट—
सहने पड़े हैं हमें किन्तु देख लीजे स्पष्ट ।

होगा इस हीन मन्त्रणा का परिणाम जो;
सेनापति राज्य पा के और भी हों वाम जो ?

उनके सहाय अँगरेज़ हैं, करोगे क्या ?
जानती नहीं मैं, कहो, धैर्य ही धरोगे क्या ?

होगी इस वीरता की यों ही व्रतोद्यापना—
दासता के बदले में दासता की स्थापना !

देखो महाराज, सूक्ष्म दृष्टि द्वारा एक बार—
भारत के चारों ओर, दूर नहीं, दिल्ली-द्वार ।

मुग़ल मलीन हुए जाते घड़ी पल हैं,
और मराठों से हुए फ्रेञ्च हीनबल हैं।

क्लाइव के पैर वंग भूमि यहाँ चूमती,
ब्रिटिश-पताका फ्रेञ्चदुर्ग पर झूमती।

नाहर ज्यों लगता है यूथप की घात में,
क्लाइव त्यों रत है नवाब के निपात में।

सेनापति संग कहीं उससे मिलें जो आप,
होगा तो अमोघ वेग और उसका प्रताप।

वंग में जलेगी वह भीमानल एक संग
भस्म होगा जिससे नवाब जैसे हो पतंग।

साध्य क्या जो सेनापति उसको बुझा सकें?
बुझ न सकेगी आप गंगा भी बुझा थकें।

वंग की क्या बात, सारे भारत में कौन भूप—
रोकेगा ब्रिटिश-वेग होगा जो कि झंझा रूप?

सिन्धूच्छ्वास या दवाग्नि रोकी कहीं जाती है?
माना, मराठों की शक्ति सब को कँपाती है।

दस्यु-व्यवसायी किन्तु क्या हैं वे अड़ेंगे जो?
नष्ट होंगे दस्यु अँगरेज़ों से लड़ेंगे जो।

तारों में अवश्य चन्द्र दीप्तिमान होता है;
तरणि-करों से किन्तु तेज सभी खोता है।

होते हैं दिन दिन यवन हतबल ज्यों,
भारत के भाग्य की घुमाता विधि कल ज्यों;

देख यह आशा नहीं होती किसे मन में ?
बढ़ते हैं वैसे महाराष्ट्र बल-धन में।

यों ही जो बहार रही समय-वसन्त में,
भारतेश होंगे महाराष्ट्रपति अन्त में।

शीघ्रही यों, निश्चित है, होगा फिर देशोद्धार;
भारत में उसका ही होगा फिर स्वाधिकार।

साढ़े पाँच सदियों के बाद सुख छावेगा,
भारत स्वपुत्रों के करों में फिर आवेगा।

विषम विकल्प में पड़े हैं हम लोग आज,
राज्य-क्रान्ति दूर नहीं, दीखते हैं सारे साज।

व्यर्थ है अदृष्ट रूपी सागर का तरना,
होगा वही—और हो—जो दैव को है करना।

द्रोहानल दीप्त कर विप्लव के मन्त्र से,
करके नवाब-नाश ऐसे षडयन्त्र से।

दूर होंगे अत्याचार और यह हीनता ?
साथ रखती है अनाचार को अधीनता।

मैं हूँ एक अज्ञनारी तो भी देखती हूँ स्पष्ट,
कर के नवाब को फिरंगीगण राज्य-भ्रष्ट।

शान्त नहीं होंगे किन्तु और भी वे होंगे लुब्ध,
बाघ जैसे रक्त—स्वादु पा के और भी हो क्षुब्ध ।

वैसे ही मराठों पर टूटेंगे तुरन्त वे,
चंग में ही शान्त नहीं बैठेंगे दुरन्त वे ।

भारत के अर्थ होगा आह ! फिर कैसा युद्ध,
सोचते ही काँपती है देह, साँस होती रुद्ध ।

जानती हूँ, यवन फिरंगियों के ही समान-
भिन्न जाति वाले हैं तथापि भेद है महान ।

सदियों से संग रहने से मुग़लों के संग,
होगया है जेता-जित-रूपी विष-भाव भंग ।

उनसे हमारा हुआ प्रेम-परिणय है,
जाति, धर्म्म हेतु नहीं होता द्वेष-भय है ।

यवन हमीं में मिले आज इस भाँति हैं,
पीपल में होते उपवृक्ष जिस भाँति हैं ।

और भी वे पतन-समीप अब सारे हैं,
शाह या नवाब हों, खिलौने—से हमारे हैं ।

खोज नहीं, कौन कहाँ विषयों में लीन है,
राज्य और शासन हमारे ही अधीन है ।

राजसेना, राजकोश और राज-मन्त्रागार,
बोलो, हिन्दुओं का नहीं आज कहाँ स्वाधिकार ?

यवनों का राज्य अब निश्चित है जाने को,
भारतके अच्छे दिन उद्यत हैं आने को।

इधर फिरंगी गण नव्य परिचित है,
रीति, नीति, नियम न उनके विदित हैं।

ज्ञात नहीं, वास सिन्धु पार कहीं दूर है,
आकृति-प्रकृति-वर्ण-भेद भरपूर है।

आये व्यवसाय हेतु, राज्य ये जमाते हैं;
धन थे कमाने चले, धरती कमाते हैं।

इनसे नवाब अलीवर्दी तक डरते,
बहुधा भविष्यवाणी ऐसी किया करते—

ब्रिटिश-अधीन होगा भारत अचिर ही,
भूले महाराज, हो क्या वृद्ध वच स्थिर भी?

इनका प्रताप यदि कोई न था सहता,
और जो विरुद्ध कुछ उनसे था कहता।

तो वे यही उत्तर सुनाते थे उसे वहीं—
थल की जली ही युद्ध-वह्नि बुझती नहीं,

प्रज्वलित सिन्धुजल भी हो कहीं इससे,
रक्षा बंगदेश की तो होगी कहो, किससे?

वणिकदशा में और रहते नवाबके,
ढंग जिनके थे यहाँ ऐसे रोबदाब के।

अब तो नवाब भी बसे हैं सुरपुर में,
जूझेगा इनसे कौन, सोच लीजे उर में ?

मेघावृत भानु यदि तप्त रहे इतना,
मेघ-मुक्त होने पर होगा तीक्ष्ण कितना ?

भारत के चित्त में स्वतन्त्रता की जो लता,
हो रही है मानों कलियों के भार से नता ।

इनके प्रताप से न होगी शुष्क वह क्या ?
झटिका उठेगी फिर कैसी-अरे, यह क्या ?"

कड़ कड़ नाद कर अम्बर को फाड़ के,
सौ सौ सिंहनाद, सौ सौ तोपों को पछाड़ के,

आँखें, झुलसाती हुई गाज गिरी पास ही,
गूँजा घन-घोष, धरा काँपी अनायास ही ।

रानी फिर बोली—"अरे, यह क्या अनिष्ट आज ?
वह सुनों महाराज, आके आप देवराज,

कहते हैं स्पष्ट क्या दिखाके दीप्ति की शिखा ?
देखो, अनलाक्षरों में व्योम में है क्या लिखा !

अस्तु, महाराज, नहीं पाप-मन्त्रणा का काम,
आग में घुसेगा कौन मूढ़ बचाने को घाम ?

'रानी का मत क्या, सुनों, मेरा यह मत है—
नीच है नवाब, क्रूर, कामी, समुद्धत है ।

सम्मत हूँ मैं भी उसे राज्य से हटाने में,
आहा ! किन्तु क्रूरता बड़े को है घटाने में ।

होगा परिणाम भी न जानें क्या अभागेका;
और क्या उपाय होगा जीवन में आगे का ?

जोहो, ठीक जानीगई रोग की अवस्था यह,
भाई नहीं किन्तु मुझे भेषज– व्यवस्था यह ।

मेरा क्या मत है, महाराज, ध्यान दीजिए,
दासता असह्य है तो खड्ग खींच लीजिए ।

हूजिए प्रविष्ट सब सम्मुख समर में,
एक भाव फैल जाय शीघ्र देश भर में ।

बंग की स्वतन्त्रता की नभ में ध्वजा उड़े,
उज्वल हो बंग मानों चन्द्र, देख जी जुड़े ।

होगा इस इच्छा से न मत्त कौन मातृ भक्त ?
उष्ण किस बंगवासी जन का न होगा रक्त ?

मैं जो एक अबला हूँ, मानों नहीं बस में;
बिजली–सी खेलती है मेरी नस नस में ।

आता है मन में, खर खड्ग लिये कर में,
चण्डिका–सी नाचूँ इसी क्षण मैं समर में ।

दुःखियों को मानती हूँ मैं निज अपत्य ही,
मातृ–दुःख कैसे सहूँ ? सेठवर सत्य ही–

'छायापथ-सा है स्वच्छ मार्ग देशोद्धार का,
आगे बढ़ो" किं वा दुःख भोगो दास्यभार का।

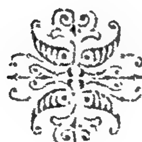
अबला-प्रगल्भता क्षमा हो देव, जोहो फिर,
भीति होती हो तो मैं दिखाऊँगी-ओहो, फिर—"

फिर निज नाद कर गाज गिरी वैसी घोर,
गूँजा घन-घोष और आँधी चली चारों ओर।

टूट पड़ी रुष्ट वृष्टिधारा रणस्थल में,
होने लगी विप्लव की वृद्धि पल पल में।

पेड़ों को उखाड़ या पछाड़ कर रण में,
आने लगे झंझा के झटके क्षण क्षण में।

दृष्टि झुलसाने लगी दामिनी दुधारदार;
उद्भासित होने लगी भीमा सृष्टि बार बार!



द्वितीय सर्ग

(कटवा—ब्रिटिश शिविर)

गत प्राय है दिवस, ग्रीष्म ऋतु का दिननायक—
अयुत करों से अग्निवृष्टि करके दुखदायक,

लेने को विश्राम, दूर, द्रुमराजि—शीश पर
स्वर्णासन-सा बिछा रहा है क्लान्त कलेवर।

हेम-घनों से घटित गगन हँसता है ऊपर,
क्रीडा पूर्वक नाच रही है गंगा भू पर।

कल तरंगिणी चूम रही है मन्द पवन को,
तरल कनक-सा सलिल मोह लेता है मन को।

शोभित दिनमणि एक प्रतीची के अञ्चल में,
सौ सौ दिनमणि झलक रहे हैं गंगाजल में।

ब्रिटिश-केतु उड़ रहा सामने ही 'कटवा' पर,
गौरव से हँस रहा सूर्य्य को फहर फहर कर।

जला जला कर यवनवीर्य्य-सा 'कटवा'-रण में
धूमपुञ्ज उठ रहा तिमिर-सा गगनांगण में।

नौकारूढ़, सशस्त्र, साहसी, वीर-ब्रिटिश-दल,
गंगा को तर रहा, शस्त्र करते हैं झल झल।

वह शोभा का दृश्य, दूर से क्या कहना है,
जवाकुसुम का हार जन्हुजा ने पहना है!

रण-शस्त्रों पर और अरुण वस्त्रों पर रवि की–
किरणें हैं प्रतिफलित, दृष्टि रुकती है कवि की।

वीर-ब्रिटिश-रण-वाद्य अहा! बजते हैं झमझम,
पदातिकों के पैर ताल पर पड़ते हैं सम।

हींस रहे हय, गरज रहे गज यथा घनाघन,
झूल झूल कर शूर-शस्त्र कर रहे झनाझन।

ठहर ठहर कर वीरकण्ठ से सेनापति के,
बदल रहे हैं विविध भाव सैनिक निज गति के।

नचते हैं ज्यों साँप सँपेरे के गुण-बल ले,
रखते हैं त्यों धीर और द्रुत पद कौशल से।

कभी करों में शस्त्र, कभी कन्धों पर रखते,
कभी घूमते, कभी साध कर लक्ष निरखते।

झर झर झर झंकार विपुल होता है ड्रम का,
विज्ञापन दे रहा सगर्व ब्रिटिश-विक्रम का।

गंगाजी को अतिक्रमण करके गभीर गति,
नीरव सेना-स्रोत वह रहा है—नीरव अति।

मन में है आसन्न-समर-चिन्ता की लहरी,
मुखमण्डल पर झलक रही है छाया गहरी।

यदि चित्रित कर सकूँ मुखाकृतियाँ मैं इतनी,
तो अंकित हों मृदुल भावनाएँ हैं जितनी।

कोई हतविध अहा, बैठ कर विरल विजन में,
चिन्ता करके प्रेममूर्ति पत्नी की मन में।

नीरव होकर नयननीर में डूब रहा है,
शोक-सिन्धु में मग्न विकल मन ऊब रहा है।

भूला है रण-साज, देखकर भी, बेचारा
नहीं देखता सैन्य, शिविर, गंगा की धारा।

घन-रण-वाद्य-निनाद नहीं कानों में पड़ता,
प्रेम-मुग्ध मन और बुद्धि में छाई जड़ता।

प्रिया-वदन-विधु मात्र देखता है वह ध्यानी,
सुनता है बस प्रिया-प्रेम-वाणी रससानी।

कहीं विदा का समय सोच कोई रोता है,
साश्रुवदन वह अमृत पूर्ण शशि ज्यों होता है।

प्रेम विवश वे नेत्र अश्रु-मुक्ता दरसाते;
वे अनिलाकुल कमल शिशिर शीकर बरसाते।

वेणी विगलित केशगुच्छ वे बिखरे बिखरे,
सरस सुधामय अरुण अधर वे निखरे निखरे।

एक एक कर याद आ रहे हैं स्मृति-बल से,
भींगे फिर भी क्यों न भला दुर्विध दृग-जल से ?

देखेगा वह वदन चन्द्र क्या फिर बेचारा ?
चूमेगा प्रणयोष्ण दीर्घ चुम्बन के द्वारा—

वे कोमल कल मधुर अधर ? आसन्न समर में—
जब खर खड्गाघात करेगा अरि क्षण भर में;

देखेगा वह वदन ? जीत कर जब तरुणारुण—
आवेगा हुंकार तोप का गोला दारुण !

वह मुख-सजल-मृगांक देख क्या मर न सकेगा ?
सोच रहा हतभाग्य हाय ! कुछ कर न सकेगा !

कहीं अभागा पिता, पुत्र के हित रोता है,
अटल-अपत्य-स्नेह-विवश धीरज खोता है।

स्वर्ण-कुसुम सुत, स्वर्ण-लता कन्या वह, आहा !
चूमेगा अब क्या न गोद में लेकर हा हा !

रोता कोई वृद्ध-जनक-जननी के हित है,
मृगशावक ज्यों व्याध-जाल में पड़ मोहित है।

मनोभाव-मृदु-कुसुम आप यों फूट फूट कर—
झड़ते गंगा-तीर नीर में टूट टूट कर।

करता है कोई स्वदेश की चिन्ता मन में,
जो स्वतन्त्रता-सदन विभव बल-वास भुवन में।

जो शिक्षा, सभ्यता, समुन्नति का आश्रय है,
गौरव-रवि, उद्यमी, साहसी है, निर्भय है।

प्राची का रवि अहा! प्रतीची को जाता है,
स्मृति-दंशन से विकल हृदय भर भर आता है।

मैं उस जननी जन्मभूमि को कब देखूँगा?
इस मरु-जीवन में न हाय! क्या अब देखूँगा?

श्वेतांगी-सुन्दरी-स्मरण कर मनः प्राण से,
फटते हैं श्वेतांग-पुरुष-उर विरह-बाण से।

सोच रहा कोई कि शीघ्र इस रण में जाकर,
लूँगा कीर्ति-किरीट-रत्न जय-गौरव पाकर।

कोई निज पद-वृद्धि सोचता है मन ही मन,
स्वर्ण-सदन रच रहा गगन में अहा! अकिञ्चन।

कर नवाब का नाश कल्पना से कोई जन-
विजय-पताका लिये कोष में लूट रहा धन!

कोई कल्पित लूट शेष कर हेम-भवन में-
देता है सब द्रव्य प्रणयिनी को पूजन में

आशे, कुहुकिनि, धन्य, तुम्हारे मायाबल से-
मुग्ध मनुज मन और मुग्ध त्रिभुवन कौशल से!

तुमको दुर्बल-मनुज-मनोमन्दिर में धाता,
इच्छासन पर यदि न सदा के लिए बिठाता;

तो अचिन्त्य चिन्ताग्नि दग्ध उसको कर देती,
भय-दुख-शोक-निराश-प्रणय-पीड़ा ग्रस लेती।

उसमें किंकर्तव्य बुद्धि देवी न ठहरती;
केवल उन्मत्तता दानवी घूम घहरती।

आशे कुहुकिनि, धन्य तुम्हारे मायाबल पर-
यह असार-संसार-चक्र चल रहा निरन्तर।

चलता नहीं कदापि मन्त्रबल से न चलाती-
यदि तुम इसको, और न यदि निज द्युति दिखलाती।

भविष्यान्ध जन इन्द्रजाल से मुग्ध तुम्हारे-
कर्मचक्र में घूम रहे वर्तुल ज्यों सारे।

पाकर तव बल जूझ रहे जीवन-रण में सब,
कठपुतली ज्यों नचा रही हो तुम हमको अब।

राजमार्ग के एक पार्श्व में परम भिखारी-
बैठा वह जो दैन्य मूर्ति तनुपञ्जरधारी।

जीर्ण वस्त्र दुर्गन्धि-पूर्ण पहने बेचारा,
बहा रहा है बार बार लोचन-जल-धारा।

भिक्षा करके तीन पहर जो कुछ है पाया,
उससे जठरानल न बुझेगी, कृश है काया।

तिस पर भी है रुग्ण, नहीं उठते उसके पग
घूम रहा सिर या कि घूमता है सारा जग।

फूँक दिया क्या मन्त्र कान में तुमने आकर,
भीख माँगने चला अभागा फिर बल पाकर !

न्यायालय का निम्न कर्म्मचारी देखो, वह,
भूखा-प्यासा, शीश झुकाये, कार्य्य भार सह।

हंसपुच्छधर वीर, प्रहारों पर प्रहार कर,
जूझ रहा मसिपात्र संग प्रभु-पद भय से डर।

जूझे थे जैसे सुकण्ठ कपि के भय से द्रुत
शाल वृक्ष ले नीलसिन्धु से वीर पवनसुत।

स्वेद सहित वह रहे अश्रु आँखों से झरझर,
सोच रहा है कि यह कार्य्य छोड़ूँगा सत्वर।

चित्र न जाने किस भविष्य का उसके सम्मुख,
कुहुकिनि, तुमने खींच दिया, बस, भूला सब दुख।

पोंछ अश्रुजल, पोंछ स्वेद, नूतन बल पाकर,
करने फिर मसियुद्ध लगा लेखनी उठाकर !

बैठा है वह विरल विजन में नव प्रेमिक जन,
प्रिया-पत्र में कहीं न पाकर तव शुभ दर्शन।

अति निराश हो डूब उठा है लोचन-जल में,
भंग हुआ-सा देख प्रेम का सपना पल में।

सुनकर फिर भी किन्तु तुम्हारी सुमधुर भाषा,
सनिश्वास कह उठा—नहीं छोड़ूँगा आशा !

भीम पवन से क्षुद्र जलाशय हिलते जैसे,
रण-चिन्ता से व्यग्र पदातिक मन हैं वैसे।

किंवा रवि की किरण-राशि ज्यों मेघ-घटा पर—
रच देती है इन्द्रचाप मणिमुकुट छटाधर।

त्यों सेना को आज दुराकांक्षा छलती है,
आशा मायाविनी सुकल्पित फल फलती है।

इन सब की यदि पूर्ण दुराशाएँ हों इतनी,
राजभवन बन जायँ पर्णकुटियाँ तो कितनी।

अथवा देखूँ दूर वृथा क्यों औरों की गति,
स्वयं दुराशा मन्त्रमुग्ध मैं ही हूँ जड़मति।

क्योंकि अन्य कवि गया नहीं जिस पथ पर अब तक,
चल सकता हूँ भला मूढ़ मैं उस पर कब तक?

वंग देश का पुरावृत्त मणि-खनि है निश्चय,
कवि की प्रतिभा बिना किन्तु है अन्धकार मय।

कुहुकिनि, कह फिर तुच्छ कल्पना कैसे मेरी—
कर सकती है उसे प्रकाशित मेट अँधेरी?

साध्य क्या कि नक्षत्र निशा का तिमिर हरे जो,
पूर्व गगन में विधु न प्रकाश-विकाश करे जो?

उस खनि में किस परम पुण्य के बल से जाकर,
किस प्रकार अद्भुत, अविद्ध-मणि-हार बनाकर,

पहनावेगा मञ्जु मातृ भाषा को यह जन ?
रखती है जो सुकवि-विनिर्मित महाकाव्य-धन।

अथवा आशे, सभी सुलभ है तव माया से,
कितने मर नर अमर हुए हैं पद-छाया से !

अस्तु, दया कर कहो आज तुम देवि, दयावति,
चित्रित है किस भाव-चित्र से सित सेनापति ?

सैन्य-शिविर से अनति दूर, तरु तले, विरल में,
नीरव, क्लाइव डूब रहा है चिन्ता-जल में ।

मुखमण्डल छविहीन किन्तु मुद्रा गभीर है,
रूपरहित है तदपि गठन युत सित शरीर है
बुद्धि-वास, वीरत्वभास, उन्नत ललाट है;
वक्षस्थल दृढ़-दीर्घ, यमपुरी का कपाट है।

उसके भीतर घोर दुराकांक्षा, दुस्साहस,
बहा रहे हैं विकट-स्व-भाव-स्रोत एक रस ।

अन्तर्भेदी तीव्र दृष्टि मय, दृग हीरोज्वल,
द्युति युत, अपलक, अटल प्रतिज्ञा व्यञ्जक, अविचल

साहसाग्नि आग्नेय अद्रि ज्यों उर में जलती,
उसकी ही तो दीप्ति दृगों से नहीं निकलती !

नेत्र-नीलिमा शत्रु-हृदय में विष बरसाती,
नरक-वन्हि-सी दुष्प्रवृत्तियाँ हैं दरसाती ।

बैठा है चुपचाप वीर तरुवर के विजन में,
अर्थहीन क्या ऊर्ध्वदृष्टि घुस रही गगन में ?

स्वकल्पना से पहुँच तिमिर मय भावि-भवन में—
इच्छा रखती है भविष्य-दर्शन की मन में ?

दुस्स्वभाव जो युवक देखने में उद्धत था,
निर्भयहृदय, दुरन्त, दुराचारों में रत था।

भेजा भारतवर्ष पिता ने जिसे सुधरने,
या सुदूर मदरास प्रान्त के ज्वर से मरने !

इस प्रकार से जिसे पिता-माता ने त्यागा,
देख रहा अपना अदृष्ट वह युवक अभागा।

विधि ने क्या क्या भोग लिखा है और भाल में ?
घूमेगा किस किस अदृष्ट के चक्रजाल में ?

दोनों दृग मध्यान्ह भानु-से प्रभा-पूर्ण हैं,
पल पल में परिवर्तमान होकर विघूर्ण हैं।

ब्रिटिश सुलभ अति राग-वेग से कभी रक्त हैं,
होकर कभी विषाद-घनावृत-से, अशक्त हैं।

विस्फारित हैं कभी क्रोध से नीले-पीले,
चिन्ताकुञ्चित कभी, कभी करुणा से गीले।

सोच रहा है वीर मौन हो—"हाय ! अकेला–
समर–सभा की और सभी की कर अवहेला।

विना विचारे कूद पड़ा हूँ रण-सागर में,
डूबा तो फिर डूब जायँगे सब पल भर में।

पैदल और सवार एक भी बच न पायगा,
गङ्गा में बस सिन्धु-पोत यह डूब जायगा।

ब्रिटिश राज्य भी डूब रसातल को जावेगा,
उसका गौरव-भानु अस्त ही हो जावेगा।

भूमिकम्प के समय भंग हो शृंग जहाँ पर,
लता, गुल्म, तरु, गेह गिरेंगे क्यों न वहाँ पर ?

मुझे भरोसा एक मीरजाफर का केवल,
भीरु यवन खल इसी तरह से करते हैं छल।

करलूँ उनके सन्धिपत्र पर प्रत्यय कैसे ?
अमीचन्द वह अधम तीक्ष्ण तक्षक है जैसे।

मुग्ध किया जिस महामन्त्र से उसे यहाँ है,
जानें उसका भेद भला तो कुशल कहाँ है ?

फन फैलाकर रोषसहित गर्जन कर कब का—
एक श्वास में नाश करेगा वह हम सब का !

नर-शोणित में सन्धिपत्र धुल घुल जावेगा;
अन्धकूप-वध-दृश्य-द्वार फिर खुल जावेगा !

रखता हो यदि कपट मीरजाफर हो वञ्चक ?
यद्यपि उसका चिन्ह नहीं पाता हूँ अब तक।

यदि वनाब ही चला रहा हो कूट चक्र यह
मिल उससे खल चाल चल रहा हो न वक्र वह,

सेनापति मिल कर न सैन्य सह मुझ से रण में,
लड़े स्वयं ही कहीं बदल कर एक क्षण में।

तब तो संकट की न रहेगी सीमा पल में,
मैं पतंग की तरह पड़ूँगा प्रबलानल में।

क्या होगा इस स्वल्प सैन्य को लेकर के तब ?
डोंगी लेकर सिन्धु तरा जा सकता है कब ?

सिर्फ़ पराजय नहीं, देखता नहीं उसे मैं,
काल क्यों न आजाय लेखता नहीं उसे मैं।

पाया जीवन, जन्म और जब मनुज गात्र है,
तब फिर मेरे लिए मृत्यु तो नियति मात्र है।

किन्तु हार यदि हुई युद्ध में कहीं हमारी,
डूबेगी व्यवसायमयी स्वर्णाशा सारी।

चाँदी की चाँदनी न होगी दो ही दिन की,
डूबेगी आन्तरिक राज्य-लालसा ब्रिटिन की।

प्रबल शत्रु का पतन देख कर दक्षिण में फिर,
गरज फरासी-सिंह उठावेगा अपना सिर।

पर जब पाँसे फेंक दिये, चिन्ता से फल क्या ?
आज सोच कर कौन जान सकता है—कल क्या ?

कर देखूँ फिर भाग्य-परीक्षा एक बार मैं,
मरा नहीं दो बार स्वयं करके प्रहार मैं।
मरा नहीं उस सफल प्रहारी सैनिक वर से,
मरने को क्या नीच यवन लोगों के कर से ?

फटता है हा ! इसे सोच कर अन्तर तर भी,
यही यातना मुझे रहेगी मरने पर भी !
चढ़ कर उस दिन पवन-पृष्ठ पर साहस करके,
आया अर्काट नगर मध्य मैं तनिक न डर के।
झंझा वात कि वज्रपात की अवहेला कर,
घुसा दुर्ग में वेग सहित विद्युत् खेला कर।
बिना लड़े–बल देख–दुर्गवासी डर भागे–
क्रुद्ध सिंह को देख हरिण ज्यों अपने आगे।
पल भर में मैं हुआ दुर्गपति क्यों उस दिन ही ?
गिरा न सिर पर वज्र या कि अरि-खड्ग कठिन ही !
था पचास दिन घोर आक्रमण सह चुकने पर,
जिसे याद कर दौड़ रही है बिजली भीतर।
कर उपलक्ष्य हुसेन–मृत्यु का यवन सैन्य सह,
रजनी में था चढ़ा क्रुद्ध कर्णाटराज वह।
दस सहस्र भी सैन्य, पाँच सौ सेना लेकर-
विमुख किया था, ब्रिटिशवीर्य्य का परिचय देकर।

मरने को क्या हाय ! सिराजुद्दौला—द्वारा ?
नहीं नहीं, यह कभी नहीं, मुझ पर है सारा—
अन्धकूप-वध-वैर-शुद्धि का भार; और भी—
खल नवाब को उचित दण्ड दे किसी तौर भी,
रखना मुझको यहाँ ब्रिटिश-गौरव अबाध्य है;
जिसका यह उद्देश उसे क्या नहीं साध्य है ?

निश्चय ही मैं युद्ध करूँगा, बदला लूँगा,
कुछ भी करे नवाब, उसे मैं प्रतिफल दूँगा।
मेरा आत्मा बढ़ो, बढ़ो, मुझसे कहता है;
बड़े वेग से रक्त नाड़ियों में बहता है।
कोई अद्भुत शक्ति हृदय खलबला रही है,
स्वेच्छा पूर्वक मुझे यन्त्र-सा चला रहा है !"

कहते कहते वीर छोड़ कर आसन अस्थिर—
लगा इधर से उधर घूमने किये नम्र सिर।
चली गई है दृष्टि भेद कर भूतल जैसे,
दिखलाई दे धरा देख कर भी फिर कैसे !
चञ्चल मन कल्पना-विताडित-पक्ष विना श्रम,
जाता है इंगलैंड कभी नीलाब्धि अतिक्रम।
आकर भावी युद्ध-चित्र है कभी निरखता,
भय पाता है कभी, कभी है आशा रखता।

चिन्ता से अवसन्न हृदय कुछ समय अनन्तर,
बैठ गया फिर नेत्र निमीलित किये वीर वर।

सहसा चारों ओर स्वर्ग का सौरभ आया,
कोमल सुर-संगीत गूँज कर नभ में छाया।

फैला शत शत सूर्य-तेज-सा नभमण्डल में,
उतरी एक प्रकाश-राशि-सी पृथ्वीतल में।

क्लाइव-मन में विविध भाव विस्मय के जागे,
देखी ज्योतिर्मयी एक रमणीमणि आगे!

युवती की तनुकान्ति शुभ्र थी, नील नयन थे,
अरुण अधर स्वर्गीय राग मय अमृत अयन थे

राज-राज-ईश्वरी-रूप था, अंगों की छवि,
दिखा सकेगा कौन चित्रकर और कौन कवि?

शुचि वस्त्रों पर झलक रहे नक्षत्र-गुच्छ थे,
पार्थिव मुक्ता-रत्न कि जिनके निकट तुच्छ थे,

ब्रिटिश-सुन्दरी-सदृश वेश-भूषा-सज्जित थी,
किन्तु सर्वथा दिव्य दीप्ति में विनिमज्जित थी।

अर्द्ध अनावृत पीन-पयोधर-युग्म पूर्ण था,
गलता था हिम हृदय देख के, स्फटिक चूर्ण था

दिखा रहा था वह सुविमल युवती का अन्तर,
चिर प्रसन्नता पूर्ण प्रीतिपाथोधि निरन्तर।

वदन-चन्द्र की हाय ! कहाँ से दूँ मैं उपमा ?
देता, यदि देखता स्वर्ग-शारद-शशि-सुषमा।

विश्वमोहिनी छटा, वसन्त-श्री विहारिणी,
कमल-नेत्र, पिक-कण्ठ, मलय-निश्वासधारिणी,

शत शत संख्यक 'कोहनूर' की प्रभा पाटकर,
दमक रहा था दिव्य रत्न उन्नत ललाट पर।

मुखमण्डल था दया और गौरव-रंगस्थल,
प्रभुता और प्रगल्भ-भाव-भूषित, हर्षोज्वल।

उस पर छूटी हुई कनक-अलकावलि कैसी ?
मण्डित करतीं बाल सूर्य्य को किरणें जैसी।

चिर वासित, चिर विकच, कुसुम-भूषित, कच कुञ्चित,
खेल रहे थे मन्द पवन से बन्ध विमुञ्चित।

उन फूलों की सुरभि और निश्वास-वास से,
हो सकते हैं अमर मर्त्य भी अनायास-से।

ज्योति रत्न मय मुकुट शीश पर ज्योतिर्खचित था,
जो कुछ था सो सभी ज्योतिमय, ज्योतिरचित था।

चिर विकसित वह ज्योति तरुण रवि से बढ़कर थी,
पर शीतल इतनी कि चन्द्रिका से चढ़कर थी।

प्रखर तेज की वृष्टि दृष्टि झुलसाती थी ज्यों,
अमृत मयी माधुरी हृदय हुलसाती थी त्यों।

क्लाइव ने दृग बन्द किये जागृत सपने में,
देखी भुवनेश्वरी मूर्ति मानों अपने में ।

विस्मित क्लाइव ओर देख सस्मित कल्याणी,
बोली–'भय क्या वत्स,' अहा ! वह कोमल वाणी–

गूँज उठी उल्लास-पूर्ण सन्ध्या-समीरमें,
गंगा सुनने चलीं, उठा उच्छ्वास नीर में !

वह मधुर-स्वर-सुधा पान करने को पल भर,
अचल हुआ-सा रहा दिवाकर अस्ताचल पर !

क्लाइव के तो रोम रोम में व्याप्त हुई वह,
नस नस में बह उठी, भाग्य से प्राप्त हुई वह ।

श्लथ हृत्तन्त्री बजी–"वत्स, क्या भय है तुझको ?
समझ वीर वर ब्रिटिश-राजलक्ष्मी तू मुझको ।

लक्ष्मी-कुल-लक्ष्मी; सुपुत्र-गौरव-गौरविणी,
राजलक्ष्मियों में सुधन्य, विधि की आदरिणी ।

दिव में बैठी हुई, कहाँ क्या होता है, कब,
भृकुटि भंग कर देख, जान लेती हूँ मैं सब ।

पार्थिव घटनाएँ अदृश्य में रह निहारती,
ब्रिटिश-राज्य-गति-वृद्धि-विपुलता हूँ विचारती ।

तू ने आसन आज अचानक डुला दिया है,
चिन्ता करके मुझे यहाँ पर बुला लिया है ।

मैं भावी विधि-लेख सुनाने आई तुझ को,
होगा जो कि अचिन्त्य, अतुल सुखदायी तुझको।

तो सुन, अब से ब्रिटिश-समुन्नति ध्रुव निश्चित है;
उसका शुभ सौभाग्य-सूर्य्य प्रायः समुदित है।

जब होगा मध्यान्ह ब्रिटिश-नृप के गौरव का,
तब मानों मध्यस्थ बनेगा वह इस भव का।

अर्द्ध ससागर धरा छत्र के तले बसेगी,
दिगदिगन्त में, देश देश में, कीर्ति लसेगी।

और बहुत दिन मुग़ल, मराठे और फरासी,
न करेंगे इस स्वर्ण-धरा को रुधिर-धरा-सी।

राज्य जमावेगा न दूसरा बाबर आके,
अथवा करके पार हिमालय जैसे नाके-

दिल्ली को लूटने लुटेरे नहीं आयेंगे,
जितने भय हैं सभी न जानें कहाँ जायँगे।

भारत के इतिहास मध्य प्रस्तुत होगा द्रुत-
एक अपूर्वाध्याय अचिन्तित, अद्भुत, अश्रुत।

कुछ दिन में अज्ञात भाव से भरतखण्ड में,
जागेगी जो महा शक्ति वह एक दण्ड में-

दिल्लीश्वर को मेष-तुल्य शृंखलित करेगी,
मरहट्टों का सिंह-गर्व भी गलित करेगी।

हिम-भेदन कर अरुण अर्क बढ़ता है ज्यों ज्यों,
घटती है सब ओर द्रुमों की छाया त्यों त्यों।

इसी तरह वह शक्ति बढ़ेगी जैसे जैसे,
हतबल होंगे यहाँ फरासी वैसे वैसे।

अपने को उस महाशक्ति का मूल जान तू;
सच कहती हूँ वत्स, न कुछ आश्चर्य मान तू।

भरतखण्ड का भाग्यचक्र तव कर चूमेगा,
इच्छा कर तू जिधर घुमावेगा, घूमेगा।

बंग देश में राज्य-नींव जो तू डालेगा,
भारत-व्यापी भवन गगन उसका छा लेगा।

विधि-मन्दिर से वत्स, अभी जब मैं आई हूँ,
भावी-भारत-मानचित्र तव हित लाई हूँ।

उत्तर में वह देख, हिमावृत अतुल हिमाचल,
सिर ऊँचा कर भेद रहा मानों गगनस्थल !

देख, अद्रि पर अद्रि अद्रि उस पर भी अद्भुत
कटि प्रदेश में घूम रहे हैं घन विद्युत युत।

दक्षिण में निस्सीम फुल्ल फेनिल नीलोदधि,
देख, ऊर्म्मि पर ऊर्म्मि ऊर्म्मि उस पर भी निरवधि

हिमगिरि-गर्व विलोक मत्त-सा होकर मन में,
उठता है वह लोल भाव से स्वयं गगन में।

उत्तर में अति अचल शैलमाला स्थित है ज्यों,
चञ्चल अचलावली सिन्धु-पर-शोभित है त्यों।

ऐरावती अपूर्व पूर्व सीमा पर रहती,
पञ्चपाणि शुचि सिन्धु नदी पश्चिम में बहती।

मध्य देश में देख, विपुल वपु विस्तारित कर,
शोभित जो वह राज्य रक्तिमारञ्जित सुन्दर।

उसके आगे वीर ब्रिटन भी तुच्छ, मलिन हैं,
तो भी होगा, और नहीं अब ज़्यादह दिन हैं।

दुर्विधि पर चिर वाम विधाता है वाधारत,
समय फेर से क्षुद्र ब्रिटनवश विस्तृत भारत !

विधि का अटल विधान वत्स, टल सकता है कब ?
कैसा था वह रोम राज्य, पर कहाँ गया अब ?

शोभित वह शतमुखी जाह्नवी-तट पर तत्ता,
भावी भारत रम्य राजधानी कलकत्ता।

सम्प्रति दीन-दरिद्र-कुटीरों से जो छाया,
लज्जित होगी उसे देख सुरपुर की माया।

ब्रिटिश-केतु वह उच्च अट्ट पर फहर रहा जो,
अनिलालोड़ित नील गगन में लहर रहा जो।

लेकर उस जातीय केतु को तू निज कर में,
ब्रिटिश-राज्य-विस्तार करेगा भारत भर में।

नये राज्य में वत्स, तुझे अभिषिक्त करूँगी;
रत्नासन पर बिठा, शीश पर मुकुट धरूँगी।
शासन सब सिर पर अदृष्ट-सा लिये फिरेंगे;
कितने राजा, राज्य, भृकुटि पर उठें-गिरेंगे।
यवनों की श्री समर-रक्त में डूब जायगी;
सित-सत्ता फिर एक नया युग यहाँ लायगी।
भारतेश इँगलैंडराज-प्रतिनिधि को पाकर,
नमन करेगा वत्स, हिमालय युत रत्नाकर।
कुछ विप्लव के बाद राज्य दृढ़ हो जावेगा;
ब्रिटिश-तेज-रवि यहाँ अपूर्व प्रभा पावेगा।
सारहीन-कंकालमात्र-से पूर्व-नृपति सब,
सौर-उपग्रह- सदृश फिरेंगे आस पास तब।
होकर राहुग्रस्त शीघ्र दुर्दान्त मुग़लदल,
होगा छाया या कि स्वप्न में परिणत हतबल।
अति प्रताप वश वैर और भय भूल भूल कर,
सिंह-मेष मिल सलिल पियेंगे एक कूल पर।
रख यह विधिकृत वत्स, न्यायपरता का दर्पण,
ब्रिटिश राज्य का मानचित्र है तुझे समर्पण।
पक्षपात से रहित जहाँ तक शासन होगा,
अटल वहाँ तक ब्रिटिश राज्य का आसन होगा।

इसी नीति को भूल यवन सब खो बैठे हैं;
इसी पाप से बहुत राज्य हत हो बैठे हैं।

विधि के कर का नाश-खड्ग राज्यों के सिर पर—
सूक्ष्म न्याय सूत्रस्थ झूलता है अति खरतर।

चिर पर-वश, हतभाग्य, बंगवासी बेचारे,
आये तेरी शरण, आर्त, यवनों के मारे।

कर यवनों का दमन कि वे हैं अत्याचारी,
धूमकेतु है उदित बंग-नभ में भयकारी।

स्वर्गच्युत कर उसे वत्स, निज भुज-विक्रम से,
स्थापित हो शुभ शान्ति-शशी तेरे इस श्रम से।

कब तक यह नक्षत्र तुच्छतर अब चमकेगा?
इसे दबा कर प्रखर ब्रिटिश-दिनकर दमकेगा।

तू इन आश्रित आर्त जनों पर निर्दय होगा,
डूबेगा तो ब्रिटिश राज्य, निश्चय क्षय होगा।

राजों के भी राज, महाराजों के नेता;
विजित-सहायक और विजेताओं के जेता।

हैं ऊपर हे वत्स, भयंकर शंकर स्वामी,
न्यायी, सदय, अपक्षपात, अखिलान्तर्यामी।

वे सब को हैं तुल्य नियम से नित्य निरखते;
धनी, निर्धनी, श्वेत, श्याम का भेद न रखते।

उनके सूर्य्य, सुधांशु और नक्षत्र गगन गत,
देते हैं सम दीप्ति सबल-निर्बल को सन्तत।
सब देशों में साम्य भाव से सित- श्यामल पर,
करते हैं जल-वृष्टि घूम कर उनके जलधर।
सब को उन की वायु जिलाती है समता से,
करती उनकी आग दग्ध भी अविषमता से।
पार्थिव उन्नतिलक्ष्य मात्र क्या चरम लक्ष है ?
देख वत्स, वह विकट परीक्षा-स्थल समक्ष है।"
देवी हुई अदृश्य, पड़ा अर्गल-सा दिव के—
दृढ़ कपाट में, मनश्चक्षुगत हत क्लाइव के।
गया स्वर्ग, आगई धरा अपने शरीर में;
हाय ! डूबता हुआ मनुज गम्भीर नीर में,
क्रीड़ामय रवि-किरण रचित शत शक्रचाप गण—
और अतुल आलोक देखता है फिर तत्क्षण,
अपने को विकराल कालकवलित विलोक कर,
अन्धकार मय विश्व देखता यथा शोक कर।
मनश्चक्षु से तथा स्वप्नदर्शन कर पल में,
क्लाइव ने अति अन्धकार देखा भूतल में !
वह विस्मय का स्वप्न मिटा, फिर आँखें खोलीं,
न वह प्रभा है और न वह रमणीमणि भोली।

न वह रूप की राशि, न वह सौन्दर्य्य सृष्टि है,
न वह सुरभि है और न वह स्वरसुधावृष्टि है।

मुष्टिबद्ध भी हाथ शून्य हैं, आतुर उर है;
न वह मनोरम मानचित्र है, न वह मुकुर है।

नर-कर में वह मुकुर नहीं रहता, यदि रहता ?
तो क्यों भूपर हाय ! स्वार्थ-रण-शोणित बहता !

"सेनापति, दिन गतप्राय है, नदी किनारे—
करते हैं आदेश-अपेक्षा सैनिक सारे।"

बोला आकर वहाँ एक कोई सैनिक भट,
चौंक उठा सुन वीर और चुपचाप चला झट।

पड़ते हैं पद शून्य में कि भूपर, न ध्यान है;
देवी के ही साथ गया क्या सभी ज्ञान है।

गूँज रही है वही गिरा, विस्फुरित वच है:—
'देख वत्स, वह विकट परीक्षा-स्थल समक्ष है'।

सजी सजाई नाव लगी थी नदी-तीर पर,
उस पर सहज फलाँग मार चढ़ गया वीर वर !

भिटिश-वाद्य बज उठा उच्छ्वसित करके जल को,
चली नाचती हुई नाव मनचाहे थल को।

लगा रहे थे ताल चतुर माँझी पातों से,—
कम्पित होने लगी जान्हवी आघातों से।

अमल आरसी टूट टूट जुड़ती जाती थी;
तरी तीर-सी नीर-चीर उड़ती जाती थी।

वीर कण्ठ से ब्रिटिशतनय मिल एक तान मय,
गाते थे जातीय गान—जय जयति ब्रिटिश जय।

गीत

चिर स्वतन्त्रता के सागर में, नभ में यथा अंशुमाली;
क्रीड़ा करती है ब्रिटानियाँ वीर पुत्र जनने वाली।
वह असीम, दुर्जय नीलोदधि, त्रिभुवन जिससे डरता है;
सदा पराजय मान ब्रिटन के तलवे चूमा करता है।
घोषित करता है दिगन्त मय—
जयति ब्रिटिश जय जयति ब्रिटिश जय।

जलधिवक्ष पर पदाघात कर अभय ब्रिटन-नन्दन हम लोग,
वीचि-वृन्द-वश किये घूमते देश देश में हैं, सुख भोग।
नव आविष्कृत अमरीका में, अफरीका में, अजल जहाँ,
विभव पूर्ण प्राची प्रदेश में, ब्रिटिश-कीर्ति है नहीं कहाँ?
गाते हैं अस्तोदय दिग्द्वय—
जयति ब्रिटिश जय जयति ब्रिटिश जय।

साथी खड्ग, भरोसा निज बल, सम्पद साहस, सेज समर,
वाहन सागर, रक्षक ईसा, कर्णधार नक्षत्र अमर।

वज्राधिक है वेग हमारा, विक्रम दावानल-सा रुद्र,
कौन दुर्ग है? कौन नदी नद? कौन अद्रि है? कौन समुद्र
जिसे न हो सुन कर सकम्प भय?
जयति ब्रिटिश जय जयति ब्रिटिश जय।

नभ के नीचे ऐसा क्या है, जिससे डरें ब्रिटिश-सन्तान?
केवल ब्रिटिश-वधू-सम्मुख वे रहते हैं अधीनता मान।
तो उन वीरविनोदशालिनी कुलवधुओं का करके ध्यान,
चलो, बढ़ो, क्या ही सुख होगा सुन कर जब वे युद्धाख्यान।
बाँधेंगी कल ललित कण्ठलय—
जयति ब्रिटिश जय जयति ब्रिटिश जय।

अभय हृदय से नीर चीर तव नाव बढ़ाओ सभी समान,
रण से क्या डर हमें, खिलौने हैं अपने बन्दूक़, कमान।
हम चाहें तो फिरे सिन्धु-गति, वज्र बीच ही में रुक जाय
क्षुद्र यवन क्या है, वह निश्चय रण में हत होगा निरुपाय
गावेंगे वंगाब्धि-हिमालय—
जयति ब्रिटिश जय जयति ब्रिटिश जय।

तृतीय सर्ग

(पलासी क्षेत्र)

क्या यही पलासी क्षेत्र ? यही वह प्रान्तर ?
क्या इसी जगह—क्या कहूँ ?—कहूँ मैं क्यों कर !

हा ! वह अदृष्ट का खेल, नियति का नर्तन—
अत्यावर्तन वह और परम परिवर्तन—

था हुआ एक नर-करस्पर्श से क्षण में;
वह मुग़लमुकुट क्या यहीं गिरा था रण में ?

अवहेला पूर्वक यहीं यवन पापी जन,
खो बैठे थे क्या चिर स्वतन्त्रता प्रिय धन ?

अन्तर्नयनों से आज वही युद्धाजिर,
देखेगा दुर्बल गौड़, कल्पने, तो फिर—

बच प्रहरी गण से जहाँ कि यन्त्रीदल में,
गा रहीं गायिका स्त्रियाँ अतुल भूतल में।

बिजली-सी नटियाँ नाच रहीं द्रुतलय में,
चल तू सिराज के उसी शिविर-आलय में।

धीरे से, डरती हुई, सांस तक रोके,
चल, जहाँ पवन दे रही सुरभि के झोंके।

सखि, शत वत्सर की कथा सुना अनुनय से,
भयकम्पित स्वर से तथा विषण्ण हृदय से।

घेरे सिराज को सरस सुन्दरी-गण हैं,
कश्मीर–कुसुम हैं और वंग-भूषण हैं।

शुचि वर्ण-विभा से स्फटिक-झाड़ विमलिन हैं,
मिलकर रजनी को बना रहे जो दिन हैं!

जिसको देखो जँच रही सु-रमणी-मणि वह,
क्या फिरते हैं मन-नयन देख मणि-खनि यह?

यह कौन कहे, ये देख मूर्तियाँ छवि की,
हैं तिलोत्तमा-उर्वसी कल्पना कवि की!

अति उज्वल; शीतल, सुरभि–दीप जलते हैं,
कोमल नीलारुण-किरण चपल चलते हैं।

दिखलाकर इत्र-गुलाब-गन्ध-विह्वलता,
धीरे निदाघ का नैश-अनिल है चलता।

बहु पुष्पाधार, स्तम्भ, कण्ठ, केशों में,
देते हैं हार बहार विविध वेशों में।

उस कान्ता का वह कण्ठहार वर देखो,
आलोड़न उसका उर-उभार पर देखो।

फूलों की माला और सु-दीपक-माला,
रूप-ज्वाला कर रही अपूर्व उजाला।

बज रही सप्त-स्वर-मिलित मनोहर वीणा,
गा रहीं उसी के साथ अनेक प्रवीणा।

करने को ज्वलित नवाब-वासना-ज्वाला,
हैं नाच रहीं बहु अर्द्धविवसना बाला।

पग चूम रही है ताल ताल पर मखमल;
करते हैं काट कटाक्ष चञ्चला-चञ्चल।

होते हैं उनसे दीप और भी उज्वल,
झंकारों से है गूँज रहा गगनस्थल।

सौ स्रोतों से बह रहा वासना-नद-सा,
हो रहा पलासी-प्रान्त आर्द्र गद्गद्-सा।

रह रह कर गंगा एक ओर बहती है,
अति निविड़ तिमिर से ढँकी मही महती है।

जो ऐसे इन्द्रिय-सौख्य-सिन्धु में डूबा,
क्यों वह नवाब का चित्त आज है ऊबा?

इन्द्रिय-विलास ने जिसे सदैव भुलाया,
क्यों उस पर चिन्ता-भाव अचानक छाया?

इस अर्द्ध निशा में शिविर मध्य निर्मोही,
करते कुमन्त्र हैं निकट राज विद्रोही।

कल ही नवाब को डुबा समर-सागर में,
देने को वंगविधान सैन्यपति-कर में।

धिक् कृष्णचन्द्र नृप, अमीचन्द धिक तुम को,
यदि खला यवन-अन्याय आसुरिक तुम को—

तो यह न बिछा कर घृण्य जाल, पल भर में—
करके नवाब का निधन, समक्ष समर में।

दासत्व-पाश तुम बिना प्रयास हटाते;
ऐसा करते तो यह कलंक क्यों पाते?

रे कुलकलंक, पापिष्ट, भीरु, जड़, दुर्बल,
विश्वास विघातक, भूप राय दुर्लभ, खल,

क्या किया, डूब कर हमें डुबाया तू ने,
भोगेंगे इस से गौड़ नरक-दुख दूने।

होगा यह प्रायश्चित्त रुधिर से तेरे,
प्रतिदान पायेंगे सदा वंगजन रे, रे!

तव पापों से शत मनस्ताप भोगेंगे,
शत शाप तुझे प्रति मनस्ताप में देंगे।

यह कपट-मन्त्र संगीत-लहर भेदन कर,
क्या घुसा भयार्त नवाब-हृदय के भीतर?

जिससे यों उसका चित्त न रहा ठिकाने,
उस अन्तर्यामी बिना कौन यह जाने ?

या कल क्या होगा हाय ! न जाने रण में,
यह सोच सोच वह काँप रहा क्षण क्षण में ?

या अंगनांग के मृदु स्पर्श से रह रह,
होकर अनंग-शर-बिद्ध विकम्पित है वह ?

तो सब सुन्दरियो, यह सु-योग मत छोड़ो,
जोड़ो अपांग शर, भृकुटि-चाप पर जोड़ो।

ढालो मधु-मदिरा हेम-पात्र में, ढालो,
शत शत आहुतियाँ काम-कुण्ड में डालो।

भर पियो, पियो भर, प्रेम-पयोधि बढ़ेगा,
डूबेगी लज्जा, चाव विशेष चढ़ेगा।

विगलितवसने, मधु-पात्र, लिये, बतलाओ,
जाती हो कहाँ ? नवाब निकट ? तो जाओ।

बरसावे सुस्मित-सुधा सुदशन-श्रेणी,
नागिन-सी लहरे पड़ी पीठ पर वेणी।

हाँ, चले नाच यह चले, बढ़ें पद कोमल,
कन्दर्प-केतु-पट उड़े, युद्ध होगा कल !

आनन्द-शिविर में एक ओर धरती पर,
बैठी रोती हो कहो, कौन तुम जी भर ?

पहचाना, वध कर प्राणनाथ का छल से,
लाया तुमको यह अधम युवक है बल से।

रोओ, तब रोओ रात्रि शेष है जब तक,
नाचो, गाओ, तुम अन्य तरुणियो, तब तक।

फिर उठा कामिनी-कण्ठ गगन को छूकर,
गरजी इतने में तोप दूर 'धुक धू' कर!

यह क्या है? कुछ भी नहीं, मेघगर्जन भर,
सब नाचो, गाओ, पियो, प्रफुल्लित मन कर।

फिर झंकार बज उठे सरस सम-संगी -
वीणा, सितार, मञ्जीर, मुरज, सारंगी।

फिर वेले की प्रत्येक तान पर तनकी—
सुध भूल उठी, बढ़ उठी, विवशता मनकी।

कल कण्ठ मिलाकर वाद्य-नाद-समुदय से,
क्या कूक रही है मत्त कोकिला लय से?

वह नहीं, गायिका लगा रही है तानें,
क्या तुच्छ पिकी में पड़े कभी ये बानें?

चिल्लाती है वह एक कुऊकू करके,
देती है शत झंकार भामिनी भरके!

झंकार मात्र ही नहीं, अहा! यह सुषमा,
क्या मदनमोहिनी मूर्ति अपूर्व-अनुपमा!

क्या मूर्तिमती सु-वसन्त रागिनी आकर,
सम्मुख नवाब के नाच रही है गाकर ?
वाणी-वीणा से बढ़ा चढ़ा स्वर मधुमय,
है निकल रहा करके सकम्प अधर द्वय।
मृदु शीतल मधु का मलय पवन आता है,
वह पारिजात की-सी सुगन्धि लाता है।
श्रृंगार-विलास-विलोल-नयन-नीलोत्पल,
हैं भासमान वासना-वारि में चञ्चल ।
सुन अर्थ भाव से रहित व्रजेश मुरलिका,
खिल उठती थी व्रजवधू-हृदय की कलिका।
फिर होगा ऐसा कौन उपल-उर वाला,
मोहें न जिसे यह सुधावर्षिणी बाला ?
निश्चय उसका दुर्भाग्य हुआ सञ्चित है,
जो सरस स्वर्ग-सोपान गान-वञ्चित है।
वाचक, सुनिए तो कान लगाकर सुख से,
यह प्रणयखेद मय गीत गायिका-मुख से।

गीत

क्यों पीड़ा देने को विधि ने रचा प्रेमनिधि है निश्चल ?
इतना कोमल करके फिर क्यों किया कण्टकित फुल्ल कमल ?

डूबे प्रथम अतल जल में तब मिलता प्रेमरत्न निर्मल,
कहीं मृत्यु फल फलता उससे, कहीं कलंक लाभ केवल।
प्रेम दूर से ही सुन्दर है, यथा चञ्चलालोक चपल,
दर्शन में जो अति अनुपम है, स्पर्शन में है दीप्तानल।
जीवन-कानन में मरीचिका मोह मयी है महा प्रबल,
अहो! यहाँ जो प्रेम चाहता वह चाहता अनल में जल।
आज प्रेम जो पान करेगा उसे समझ कर सुधा सरल,
फल विरहानल में पावेगा तरल अश्रुजल और गरल!

वह सुनो गगन गत गान, तान लय-सम में,
क्या कूक रही है प्रात पिकी पञ्चम में!
या खिली हुई है अहा! अवनि पर नलिनी,
उसमें कल रव कर गूँज रही है अलिनी।
लो, नया प्रेम सञ्चार हुआ है अब तो,
ललना-मुख लज्जा-ललित हुआ है तब तो।
देखो, अधरों पर हास-राशि फिर आई,
विकसी अब प्रणय-प्रसून-कली मनभाई।
फिर देखो, अब यह जान पड़ा दृग-जल से—
उस प्रणय-पद्म में कीट घुसा छल-बल से!

इससे नवाब का हृदय द्रवित हो आया,
कामानल फिर जल उठा, महा मद छाया।

आ घिरा गगन में काल-मेघ विद्युत युत,
उछला समुद्र, उन्मत्त हो उठा मारुत।

फिर बढ़ा वासना-स्रोत, प्रबल हो छूटा,
लज्जा का बन्धन लाख जगह से टूटा।

मन मग्न हुआ रमणी-स्वरूप में, स्वर में,
तन तप्त हो उठा मत्त मदन के ज्वर में।

वह अश्रु पोंछने चला हाथ से ज्यों ही,
'धाँ' करके गरजी तोप दूर फिर त्यों ही!
करके संगीत-तरंग भंग वज्रोपम–
फिर सुन नवाब को पड़ा नाद वह निर्मम।

सिर घूमा, पगड़ी गिरी, कम्प था तन में,
बज उठा ब्रिटिश-रण- वाद्य दूर कानन में।

भू कँपी, गिरे सब वाद्य, घटा-सी घहरी,
सम बिना सहम तत्काल नर्तकी ठहरी!

क्षण भर पहले जो वदन हास्य-विकसित थे
अब भय-विषाद-वश मलिन, पीत या सित थे

उठ फरशी का नल फेंक युवक सचकित-सा,
नत वदन टहलने लगा, गभीर, थकित-सा।

जो था संगीत-निमग्न यथा सुरपुर में,
फिर चिन्ता के विष-दन्त लगे उस उर में ।

भय से भूतल पर बैठ नर्तकी नारी
रोती थी सिर पर हाथ धरे बेचारी ।

अस्थिर नवाब कुछ टहल सोच कर गहरा,
आख़िर गवाक्ष पर बाहु टेक कर ठहरा ।

देखा तब उसने अनतिदूर, हर कर नम,
रिपु का प्रकाश प्रज्वलित प्रेत-पावक-सम ।

कुछ देर एक टक उसे देख कर अस्थिर—
चौंका वह सहसा, गिरा एक आँसू फिर ।

निकला सुदीर्घ निश्वास एक अनजाने,
क्या चला पवन पर शत्रु-प्रकाश बुझाने !

था नृप-हिंसा-विष भरा, बिना रण ठाने
निज वैरि-वृन्दको प्रेत-पुरी पहुँचाने !

झंझा के पीछे सिन्धु शान्त हो जैसे
धारण करता है भाव पूर्व के ऐसे ।

कर उसे विलोड़ित तरल तरंग क्रम से—
होती हैं जल में लीन स्वयं विभ्रम से ।

वैसे ही हुआ यथेष्ट नवाबहृदय फिर,
निश्वास अनन्तर शान्त, सुशीतल, सुस्थिर ।

नत दृष्टि किये, निज दशा निरीक्षण करके;
वह प्रकटित करने चला भाव भीतर के—
"क्यों आज ?"—गला रुँध गया शोक के कारण,
अति कठिन हो गया उसे धैर्य्य का धारण।
"क्यों आज तबीयत नहीं कहीं लगती है ?
विष भरी हुई सी दीख रही जगती है !
क्यों चिन्ताकुल है चित्त आज यों चञ्चल ?
विधवा-लोचन-जल और अनाथ-रुदन-जल;
अपहृत सतीत्वधनवती नारियों के मुख,
निर्दयता से वध किये हुओं के भी दुख;
कर सके न जिसका सहज विनोद विदूरित,
क्यों उसकी आँखें आज अश्रु परिपूरित ?
अरि-शिविर-ओर मैं दृष्टि डालता हूँ जब,
प्रत्येक ज्योति में हाय ! न जानें क्यों तब—
अंकित निज अत्याचार देखता हूँ सब;
होता है ज्ञात कि भस्म हुआ अन्तर अब।
भ्रम मान उसे निज नेत्र पोंछता हूँ झट,
पर वह कलंक क्या पोंछ सकेगा यह पट !
फिर नेत्र पोंछ जो उधर दृष्टि लाता हूँ,
तो वही चित्र सुस्पष्ट पुनः पाता हूँ !

ऊपर देखूँ तो बहु विभीषिका वाली,
दिखलाई देती मुझे मूर्तियाँ काली।

प्रति तारा में प्रति पाप-चित्र सा मेरा,
दिखलाता है सब ओर मुझे अन्धेरा।

जिन पापों को करते न पलक भी झँपता,
क्यों उनका चित्र विलोक आज हूँ कँपता?

करने में पुण्य कि पाप समान सरल हैं,
पर भिन्न भिन्न-परिणाम परीक्षा स्थल हैं।

इस वङ्ग राज्य में दीन प्रजाजन सारे,
दिन भर भिक्षा कर श्रान्त-क्लान्त बेचारे।

रिक्तोदर, पेड़ों तले, भूमि पर निर्भय-
सोते हैं सम्प्रति शान्ति लाभ कर सुख मय।

उनका राजा मैं इस सु-शयनशाला में-
जलता हूँ क्यों भू-गगन-शोच-ज्वाला में?

हा विधे, मुझे क्यों शून्य दीखती धरती?
क्या निद्रा भी है राजदण्ड से डरती!

क्या होगा मेरा-जय कि पराजय रण में,
आकुल हूँ क्या मैं यही सोच क्षण क्षण में?

यदि मैं नितान्त ही यहाँ हार जाऊँगा
तो प्राण किसी विध क्या न बचा पाऊँगा?

जीते जी तो मैं योग न रण में दूँगा,
क्यों कर अलक्ष्य में निहत शत्रु से हूँगा ?

यदि भागी निश्चय चमू पराजय पाकर
तो आश्रय लूँगा दौड़ दुर्ग में जा कर।

मुझ सा यों कौन भविष्य सोच करता है ?
यों सोच कर्म्म-फल—पूर्व-कथा मरता है ?

करताल, खञ्जरी आदि बजाकर सुख से,
कर-ताल लगा कर, भाव जता कर मुख से,

करते हैं सम्प्रति नृत्य गान सब प्रहरी;
निश्वास रोकती नहीं शोच-विष-लहरी।

सब मोद-मग्न हैं, नहीं किसी को कुछ भय—
क्या होगा रण में—जय कि नितान्त पराजय ?

अथवा क्यों भय-घन उन्हें घेर छावेगा ?
है वहाँ कौन सा राज्य कि जो जावेगा ?

वे क्यों चिन्तित हों ? मृत्यु ? मृत्यु तो जग में–
है दीनों के हित तुच्छ, प्राप्त पग पग में।

मेरे सन्तोष हितार्थ हुए कितने क्षय ?
दुःखी का जीवन मरण-तुल्य है, फिर भय ?

मारे या पाले भूप यथेच्छाचारी,
उस एक जीवहित बनी प्रजा यह सारी।

मेरा जो हो, हो, उन्हें कौन सी शंका ?
(कुटियों को क्या, जल जाय जले जो लंका)

जो-आँधी पेड़ उखाड़ फेंक देती है,
वह तुच्छ तृणों का कहो कि क्या लेती है ?

हा ! यों ही इस आसन्न समर में पड़ कर,
मैं खोऊँ अपना राज्य मरूँ या लड़कर—

तो उन्हें ? शून्य होगा न वंग-सिंहासन,
यदि गया एक नृप करे दूसरा शासन ।

अथवा क्या कहना मान मीरजाफर का,
होगया सैन्यदल सकल उसी के कर का ?

यह कौन कहे ? या समर-साज यह सारा,
षड्यन्त्र मात्र है, मुझे भुलाने हारा ।

सम्भव है, कल ये श्वान मुझे मिल मारें,
या दें क्लाइव के हाथ, कुटिलता धारें ।

हैं मग्न तभी तो, या कि दुष्ट अति दुर्मति,
मारेगा मुझको आज यहीं सेनापति !

निश्चय विद्रोही हुए नीच ये सारे,
किस साहस से अन्यथा अभयता धारे—

क्लाइव लेकर लघु सैन्य सामना करता ?
मम विपुल वाहिनी से न तनिक भी डरता ?

होगा ऐसा जड़ कौन स्रोत ले सर का,
जो वेग रोकने चले महासागर का ?

या व्यजन-वायु से चले फेरने आँधी ?
निःसंशय सब ने कमर पाप पर बाँधी।

मैं मूर्ख हूँ कि निज नाश किया निज कर से;
निश्चिन्त क्यों न होगया मीरजाफर से ?

क्यों जीता रक्खा उसे भूल शपथों में ?
भूला क्यों क्लाइव-पत्र-पङ्क्ति-विपथों में !

है किसे ज्ञात, अँगरेज़ छली हैं इतने ?
इतने झूठे हैं, अहं बली हैं इतने ?

कहने में निज, पर किन्तु सदा करने में ;
मृगजल मिथ्या विश्वास-भाव करने में !

हा ! जाऊँ अब मैं कहाँ ? बचूँ क्या करके ?
विश्वासघ्नों ने मुझे डुबाया धर के।

हा ! ईश्वर, मैं उन्नीस वर्ष का बालक—
षड्यन्त्र-जाल में फंसा कि जो है घालक।

मम रक्षक भक्षक बना मीरजाफर खल,
यदि किसी तरह से परित्राण पाऊँ कल;

तो विद्रोही उसके समेत जो सब हैं
मारूँगा उन्हें सवंश आपही अब मैं।

फिर अँगरेज़ों के उष्णरक्त को पीकर,
हूँगा कृतार्थ निश्चिन्त भाव से जी कर।

यह क्या है ?" सुन पद-शब्द कँपा वह थर थर,
सोचा कि आगया काल मीरजाफर-चर।

झट कोने में जा छिपा, किन्तु जब जाना,
यम दूत नहीं, निज दास मात्र पहचाना।

तब बैठ गया भय-विकल, थाम कर निज सिर,
कुछ काल सोच कर यही किया उसने स्थिर—

"जो हो कपाल में, लिखूँ पत्र क्लाइव को,
मैं बिना युद्ध ही राज-छत्र क्लाइव को—

दे दूँगा, पीछे मुझे न यदि वह मारे,
केवल इतनी ही दया हृदय में धारे।"

तब कम्पित कर से लगा पत्र लिखने वह,
फिर ठहर गया कुछ सोच और बोला यह—

"क्लाइव का क्या विश्वास, राज्य-धन लेकर,
सब कुछ लेकर फिर"—इसी समय भय देकर—

कोने में छाया पड़ी किसी की लटपट,
छिप गया पुनः वह फेंक लेखनी झटपट।

फिर शत्रु समझ कँप रही देह थी इसकी,
पर बेगम की अनुचरी मात्र थी अब की!

इस बार अभागा बैठ गया हत मृत सा,
गति रही न कोई, हुआ विकार-विकृत सा

नीचे से धरती लगी खिसकने ऐसे—
फाँसी वाले की पाद-पट्टिका जैसे !

यों प्राण काँपने लगे वेग से झट झट—
निकलेंगे मानों अभी तोड़ मानस-पट।

वह चिन्तित बैठा रहा देरतक यों ही,
गिरने दो आँसू चार उमड़ते त्यों ही।

"अब नहीं; और अब नहीं सहाजाता है,
यह चित्त किसी विध चैन नहीं पाता है।

मैं पैर पड़ूँगा वृद्ध मीरजाफर के,
निज राजदण्ड, असि, मुकुट सामने धरके।

माँगूँगा उस से प्राणदान की भिक्षा,
उपजेगी उसमें क्या न दया न तितिक्षा" ?

वह सचिव-शिविर की ओर चला पागल सा,
विस्फारित लोचन, कम्पपूर्ण चलदल सा।

पर ज्यों ही अपने शिविर-द्वार पर आया,
तम में शत शत यम रूप देख चिल्लाया।

"वञ्चक-नृशंस ने हाय ! मुझे यह मारा"
मूर्च्छित होकर गिर पड़ा वहीं बेचारा।

तत्क्षण बिजली का वेग-विभा दिखलाकर,
रक्खा बेगम ने उसे अंक में आकर।

वह शिविर मध्य निज शयन मञ्चपर बैठी,
थी स्वामी के ही सोच-सिन्धु में पैठी।

नीरव निज अञ्चल भिगो रही थी रोकर,
पति के अदृष्ट के लिए अधीरा होकर।

पागल सा जाता देख उसे घबराई,
पीछे पीछे थी चली आप भी आई।

कान्ता का अंग-स्पर्श सरस मृदु पाकर,
होकर सचेत कुछ देर बाद बंगेश्वर।

धारण करके उस प्रेम मूर्त्ति को उर पर,
रोने अबोध शिशु सदृश लगा अति कातर।

सुन रुदन सेविकावृन्द दौड़ द्रुत आया,
सबने शय्या पर उसे तुरन्त लिटाया।

तारा-परिवृत-विधु अस्ता-शैल पर आया,
"स्वामी, यह क्या ?" बोली विषादिनी जाया।

फिर अस्फुट स्वर से बोल उठा बेचारा—
"वञ्चक नृशंस ने हाय ! मुझे यह मारा"

था ग्रीष्म-निशा का मिटा अभी न अँधेरा,
जिसने नीरव भू-गगन सभी था घेरा।

धरती की ओर निहार मलिन, मन मारे,
टिमटिमा रहे थे शिविर-दीप-सम तारे।

झिल्ली-रव-मिस हत वंग भूमि रोती थी,
भवितव्य सोच कर अति अधीर होती थी।

उठता था वह रव भेद पलासी-प्राङ्गण,
आतुर नवाब ने सुना उसे एक क्षण।

था मानों वह कुछ नियति-निदेश तिमिर में;
फिर काँप उठा हत भाग्य सभीत शिविर में।

"वञ्चक नृशंस ने हाय! मुझे यह मारा"
कहते कहते तनु शिथिल हो गया सारा।

उस समय निदाघ-प्रभात-पूर्व का स्पर्शन,
विचरण करता था आम्र विपिन में सन सन।

वातायन-पथ से वही पवन था आता,
जो था नवाब पर व्यजन विशेष डुलाता।

अति आर्त अनिद्रा और सोच के मारे,
टँक पलकों से वह उभय दृगों के तारे।

दुःस्वप्न देखने लगा सुप्त रहते भी,
मुहँ सूखे, सूखे रुधिर जिन्हें काते भी।

प्रथम स्वप्न

रे दुराचार, कुछ दया न आई तुझ को,
मारा था तू ने राज्य-लोभ-वश मुझ को।

कल उसका प्रतिफल तुझे मिलेगा पापी,
होगा मुझसा सन्तप्त स्वयं संतापी !

द्वितीय स्वप्न

चाची हूँ देख सिराज, वही मैं तेरी;
तेरे हाथों क्या दशा हुई थी मेरी ?

मुझ विधवा का धन-राज्य छीन कर सारा,
तूने निकाल कर मुझे भूख से मारा।

जिसके हितार्थ दुष्कर्म किये हैं ऐसे,
रक्खेगा अब वह राज्य सोच तू कैसे ?

तृतीय स्वप्न

मारा था तूने हमें डुबाकर जल में,
डूबेगा कल तू आप अवश्य अतल में।

चतुर्थ स्वप्न

रे दुर्जन, देख, हुसेनकुली हूँ मैं वह,
मारा था तूने जिसे, अमानुष, अब रह;

मम सत्य शाप से रक्त बहेगा तेरा,
तूने जहाँ कि था रुधिर बहाया मेरा।

जी भर कर पापी, आज और तू सो ले,
कल नहीं खुलेंगे नेत्र किसी के खोले।

पंचम स्वप्न

भर कर अति भीषण पाप-वासना मनमें
तूने हमको था हरा बालिकापन में।

देकर कलंक ले लिये प्राण-धन सारे,
होगा विनष्ट तू क्यों न अरे, हत्यारे!

षष्ठ स्वप्न।

रे क्रूर, याद है, अन्धकूप में तू ने,
मारा था कैसे हमें, दुःख दे दूने?

देकर सहायता कल स्वदेशियोंको हम,
देंगे तुझको प्रतिदान समर में यम-सम।

करके अधीनता-रुधिरमग्न बंगालय,
अपनी अभिलाषा पूर्ण करेंगे निश्चय।

देखेगा तू दुर्वृत्त, और जानेगा,
समझेगा अच्छी तरह और मानेगा।

प्रतिहिंसा जीते हुए ब्रिटन की जैसी,
मरने पर भी वह जागरूक है जैसी।

तब तमोनिशा के अन्तसमय में समुदित,
दीखी अम्बर में वक्र रजत रेखा सित।

भवितव्य सोच कर बंग भूमि की गति का
कंकाल शेष रह गया शर्वरी-पति का !

भीषण, सशस्त्र, रण मूर्ति देखकर भय से,
शशि छिपा हुआ था कहीं सशंक हृदय से ।

आकर दिखलाई दिया अहा ! वह इस क्षण,-
वृक्षान्तराल से देख पलासी प्रांगण ।

होगी विदीर्ण बहु शस्त्र जाल से जो कल,
वह रंग भूमि है आज सुनिद्रित, निश्चल ।

तब उठा मौन विधु, मौन चंद्रिका ने चल—
आलिंगनार्थ देखा सुबंग-वसुधातल ।

देखा, चिर-पिंजर-पिकी बंग-भू रोई,
दूर्वादल पर मुक्ताश्रु देख ले कोई ।

देखा, कितने फल-फूल आर्द्र हो आये,
जिन पर दुखिया के नेत्र-नीर-कण छाये ।

देखा शिविरों की पंक्ति छटा यों धारे,
ज्यों धवल बालुका-स्तूप समुद्र किनारे ।

या गो-गृह वाले रण-क्षेत्र में कौरव
संमोहन-बाण-विमुग्ध पड़े हैं नीरव ।

सुख-शान्ति-मूर्ति, संसार-स्वामिनी निद्रा,
राज्यच्युत सी है आज अनाथ दरिद्रा ।

नर-नयनों में विस्तार नहीं है उसका,
इस रण-भू-पर निस्तार नहीं है उसका।

यदि अनजाने वह नेत्र किसी के मींचे,
उनको अलक्ष्यकर-सुधा स्पर्श से सींचे।

तो प्रहरी पद-रव और पवन-सनसन से,
झट चौंक भागती ऊँघ अभुक्त नयन से।

भय ने सबका सुख-भोग मिटाया ऐसे,
बन गई भीष्म-शर-सेज पलासी जैसे।

सन्नाटा मचा नवाब-शिविर-घेरों में,
चुप चाप दास जन जाग रहे डेरों में।

जलते हैं केवल दीप, वायु आता है,
पर सर सर करके समय निकल जाता है।

निष्प्रभ नवाब-मुख स्वेद-कणों से छाया,
दरसाता सा है विकट स्वप्न की छाया।

शय्या पर बैठी वही सुन्दरी दुख से,
दृग भरे, पसीना पोंछ रही प्रिय-मुख से।

कोमल कर का रूमाल हुआ जब गीला,
तब उसने अञ्चल लिया चारु चटकीला।

अपलक आखों से प्रेम-सुधा बरसाती,
अवनत मुख से निज-दुःख-दशा दरसाती।

प्रिय-मुख विषादिनी वधू निहार रही थी,
सब सुध बुध अपनी आप बिसार रही थी।

मुँह घेर विलम्बित केश पड़े थे जाकर—
पति की छाती पर और नरम तकिये पर।

प्रिय-कण्ठ तले थी एक मृदुल भुज-लतिका,
मुख पोंछ रही थी अन्य पाणि से पति का।

रह रह दृग-जल से भींग, प्रेम से झुक झुक
प्रिय-वदन प्रेयसी चूम रही थी रुक रुक।

प्रस्वेद पोंछते समय सती के लोचन,
करते सुर-दुर्लभ-अश्रु-वारि थे मोचन।

राघव—सिर रख उरु—उपाधान पर, वन में,
उनका पथ—पीड़ित वदन विलोक विजन में।

इत विधि वैदेही जो सुअश्रु बरसी थी,
जिन को विलोक स्वर्गीय सुधा तरसी थी।

यों वन वन में जब घोर त्रियाम तिमिर था,
निज गोदी में मृत प्राणनाथ का सिर था।

दुखिया सावित्री जो सुअश्रु बरसी थी,
जिन से कि मर्त्य में अमर—रमा सरसी थी।

वे ही सुअश्रु इस निशामध्य यह बाला
बरसा बरसा कर बुझा रही है ज्वाला।

उनके आगे क्या तुच्छ वंग-सिंहासन ?
क्या है सुरेन्द्र-पद या कि अमरपुर-शासन ?

इस ओर शिविर में चौंक चौंक पग पग पर,
अस्थिर क्लाइव निशि बिता रहा है जग कर।

मन में विचार भवितव्य अनिश्चित अपना,
पड़ता है रह रह विकल वीर को कँपना।

"लेकर इतना लघु सैन्य" सोचता है यह—
"क्या हरा सकूँगा मैं अपार सेना वह ?

यदि विजय कहीं रण मध्य हुई न हमारी,
तो होगी आशा विफल ब्रिटन की सारी।

दुर्लङ्घ्य जलधि को लाँघ, शत्रु से घिर कर,
जा कौन सकेगा तब स्वदेश को फिर कर ?

पहले तो मेरा सैन्य अल्प संख्यक है,
फिर उसमें रण-पटु नहीं एक जन तक है।

शिशु-सदृश मूढ़ गति समर मध्य सब की है,
अधिकों ने रख लेखिनी अभी असि ली है।

तृण काट सकेंगे वज्र-जाल को कैसे ?
तो लौटूँ, है क्या लाभ मरण से ऐसे ?

तो लौटूँ ? लौटूँ कहाँ ? देश को जाऊँ ?
र जाऊँ तब तो परित्राण जब पाऊँ।

मैं पैरों पड़ इस काल शत्रु के रोऊँ,
तो भी यह सम्भव नहीं मुक्त जो होऊँ।

यह खल हम सब को मार रुधिर चक्खेगा,
या कारागृह में बाँध बन्द रक्खेगा।

तो फिर क्यों भागूँ? युद्ध-निरत होऊँगा,
मैं समर-सेज पर शूर-सदृश सोऊँगा।

हम हैं वीरों के पुत्र, समर-व्यवसायी,
यदि होंगे भी तो शूर-सदृश भू शायी।

स्वातन्त्र्य और वीरत्व हमारे धन हैं;
अर्पित उनके ही लिए सदा जीवन हैं।

असि रहते माँ की लाज न जाने देंगे;
सित तनु में असित कलंक न आने देंगे।

रिपु को मारूँ या मरूँ, करूँगा रण में;
करता हूँ लो, यह खड्ग उठाकर प्रण में।

लौटूँगा हे इंग्लेण्ड, विजय-गौरव से,
अन्यथा सदा के लिए विदा अब सब से।"

जब तक हो चिन्तित चित्त कुछेक ठिकाने
खिंच गया दूसरी ओर ध्यान अनजाने।
प्रेमाकुल कोई ब्रिटिश युवक गाता था;
सुनकर करुणा से हृदय भरा आता था।

गीत

मेरी केरोलीना, प्यारी,
माँगूं विदा आज क्या कह कर मैं तुझ से सुकुमारी !
वाणी नहीं निकलती मुख से,
हृदय फटा जाता है दुख से।
उद्वेलित है प्रिये, प्रेम का पारावार अपार,
शत शत तरल तरंगें उसमें उठती हैं प्रतिवार।
प्रति तरंग पर मेरे प्राण,
गाते हैं तेरा ही गान।
करते हैं वे प्रति तरंग का चुम्बन वारी वारी।
मेरी केरोलीना, प्यारी !

मेरी केरोलीना, प्यारी,
यदि समुद्र के एक प्रान्त में उगे चन्द्र छविधारी
जाता है उसका प्रकाश धक,
इस सीमा से उस सीमा तक।
करने लगता है रत्नाकर रजत चन्द्रिका-हास,
वैसे ही करती है यद्यपि तू इँगलैंड निवास।
भारत में तव रूपालोक,
क्या अन्तर सकता है रोक ?

इस अभाग्य के उर में उसकी झलक रही द्युति न्यारी।
मेरी केरोलीना, प्यारी !

मेरी केरोलीना, प्यारी !
बैठ दुराकांक्षा-नौका पर जिस दिन अति अविचारी।

तरकर परम प्रबलतर सागर,
छोड़ प्रेम का पूर्ण सुधाघर,

इस देशान्तर में आया था तेरा प्रेमी हाय !
बार बार हे प्रिये, वही दिन अन्य विचार विहाय !

इस रण-प्राङ्गणमें सविषाद,
आता है इस जन को याद।

उछल रहा है स्मृति-झंझा वश प्रणय जलधि लयकारी।
मेरी केरोलीना, प्यारी !

मेरी केरोलीना, प्यारी !
रखकर सुन्दर सरल वदन पर तरल हास बलिहारी !

प्रिये, कहा था तूने—"प्यारे,
पहनाने के लिए हमारे,

लाओगे न गोलकुण्डा के हीरों का तुम हार ?"
करके भौंह भंग अहा ! फिर सजल-नयन-शर मार।

धर कर मेरा बाँया हाथ,
था यह कहा—"और कुछ नाथ,

नहीं चाहती केरोलीना प्यारी सदा तुम्हारी।
मेरी केरोलीना, प्यारी !

मेरी केरोलीना, प्यारी !
प्रिये आज, इस दुर्विध के ये प्रेम-अश्रु जो भारी

अविरल आँखों से हैं बहते,
यदि न तरल होते, थिर रहते,

तो इनसे जो हार गूँथ कर देता मैं उपहार,
उनके निकट गोलकुण्डा का हीर-हार क्या छार

आलोकित करके प्रति अश्रु,
रहती तू उसमें रुचिरभ्रु !

तुझे छोड़ रखती क्या उसका मूल्य मही बेचारी !
मेरी केरोलीना, प्यारी !

मेरी केरोलीना, प्यारी !
थी बस यही एकही मेरी शेष निशा अँधियारी।

अन्तिम यही चन्द्र था मेरा,
जो किरणों से मेट अँधेरा,

देता है निज अमृतकरों से अवनी को आह्लाद
हाय ! प्रिये, क्या इस विषाद मय चिरवियोग के बाद

मेरे अन्ध हृदय की ओर,
देकर इस जीवन में ठौर,

तेरा रूप करेगा अब फिर आलोकित अविकारी ?
मेरी केरोलीनो, प्यारी !

मेरी केरोलीना, प्यारी !
किंवा कल,—इसका विचार भी है अति हृदय विदारी

कल उस भीषण समर स्थल में,
हतविधि की आँखों में, पल में,

हो जावेगी अन्धकारमय वह आशा यह रूप,
तो फिर अश्रुसिक्त छोटा सा तेरा चित्र अनूप

छाती पर रख प्रेम समेत,
आऊँगा मैं मृत्यु-निकेत।

तुझे पुकार जन्म भर के हित शक्ति लगा कर सारी-
मेरी केरोलीना प्यारी !

मेरी केरोलीना, प्यारी !
जाती है निशि, फिर यह निशि यह उडु-कुसमों की क्यारी

फिर यह अति निर्मल नभ नीला,
यह चिर चारु चन्द्र चटकीला,

मेरी इन आखों में प्रेयसि; होगा क्या प्रतिभात !
सम्भव है, मेरे जीवन का अन्तिम यही प्रभात

दृग-जल से कालिख धो आज,
पूर्वाचल पर रहा विराज।

अब न पुकारेगा यह हतविधि तेरा प्रेम पुजारी ।
मेरी केरोलीना, प्यारी !



चुप हुआ युवक ज्यों शेष तान सह तन्मय,
मन-प्राण होगये नैश समीरण में लय ।

क्लाइव-कर्णों में वही मृदुस्वर छाया,
उर द्रवित होगया, एक अश्रु वह आया ।

निकला सुदीर्घ निश्वास सहित मुखसे तब—
" प्रियतमे, मेस्किलिन,-हाय ! जन्म भर को अब-"



चतुर्थ सर्ग

(युद्ध)

करके यवन गणों के सुख की निशि का निपट निदान,
हुआ पलासी के प्रांगण में मानों नया प्रभात ।

यवन-भाग्य आरक्त गगन में अंकित करके स्पष्ट
धीरे धीरे उठा दिवाकर पाकर मानों कष्ट ।

शान्तोज्वल कर-निकर भूमि को चिर स्नेह से चूम,
घुसा आम्र-वन में क्रीड़ा से पत्र-पथों में घूम ।

हुआ श्वेत-शुभ्र-शतपत्रों पर उसका बिम्ब-विकास,
पाया निज में नव स्फूर्ति का वलाहक ने आभास ।

देख स्वप्न के पीछे रवि को कम्पित हो तत्काल,
निकला-सा समझा सिराज ने विधि का लोचन लाल !

बीती नीरव निशा अभी तक नीरव था संसार,
करता था न पवन भी मानों रण-तल पर सञ्चार ।

हिलता पत्ता तक न था कि था सन्नाटा भरपूर,
लेता था न साँस भी मानों कोई सैनिक-शूर ।

निश्चल सी थी दूर जान्हवी, वीचि-विहीन तड़ाग ;
डालों पर बैठे थे नीरव गीध, चिल्लिका, काग ।

अचल पलासी-प्रांगण रण की देख रहा था राह,
रुक जाता है प्रलय-पूर्व ज्यों पूरा प्रकृति-प्रवाह ।

बजा ब्रिटिश रण-वाद्य इसी क्षण करके घन-घन घोर ।
कम्पित कर समरस्थल को,
कम्पित कर गंगाजल को,
कम्पित करके आम्र-विपिन को गूँजा रव सब ओर ।

नाचा सुनकर उसे नसों में सैन्य जनों का रक्त ।
माँ की गोदी में बच्चे—
उछले सुन कर स्वर सच्चे,
उत्साहित होकर शय्या पर बैठे रुग्ण अशक्त ।

गरज उठा तब समर-रङ्ग से बज नवाब का ढोल ।
ऐसी गहरी गमक उठी,
जिससे धरती धमक उठी,
होने लगा वायु-मण्डल भी बार बार विलोल ।

भीषण, मिली हुई, ध्वनि सुन कर चौंक चौंक तत्काल ।
अरघा लिए हुए द्विजवर,
हल थामें किसान सत्वर,
ठिठके वज्राहत पन्थी ज्यों, हुआ हाल बेहाल ।

करके ग्रहा अर्द्ध निष्कोषित तब अपनी तलवार,
एक वार पृथ्वी तल को,
एक वार गगन स्थल को,
देखा सैनिक गण ने मानों यही आखिरी वार ।

भागीरथी-भक्त आर्यों ने भक्ति-भाव के साथ ।
क्षण भर पूर्ण दृष्टि भरके,
गङ्गा के दर्शन कर के,
नाद किया "जय गङ्गा माई" जोड़ जोड़ कर हाथ ।

निमिष मात्र में सैन्य जनों ने इङ्गित के अनुसार
बन्दूकें निज कन्धों पर,
ले लीं दर्प सहित तन कर,
सङ्गीनों से हुआ कण्टकित युद्धस्थल इस बार ।

वेगशालिनी सरिता जैसे करके भैरव घोर,
जाती है द्रुत हहराकर,
उमड़ उमड़ कर, लहराकर,
करने को प्रतिकूल शैल पर तड़ितप्रहार कठोर ।

अथवा देख मृगों को वन में क्षुधित व्याघ्र विकराल ।
देर न करके वह पल भर,
पथ में गुल्म-लता दल कर,
करने को आक्रमण तीर-सा जाता है तत्काल ।

वैसे ही तत्क्षण सिराज के सज्जित सैनिक-शूर ।
आम्र-विपिन को लक्ष्य किये,
एक स्रोत से शस्त्र लिये,
दौड़े चण्ड दण्डधर यम-सम, रण के मद में चूर ।

कोई सौ तोपों ने सहसा एक साथ रण ठान,
भीषण अनल वृष्टियाँ कीं,
शत संहार-सृष्टियाँ कीं,
तिरोधान होगये सैकड़ों वीर ब्रिटिश-सन्तान ।

शराघात पाकर सुप्तोत्थित ज्यों शार्दूल दुरन्त ।
हयारूढ़, निर्भीकमना,
खींचे हुए लगाम, तना,
सेना को सँभालने क्लाइव आया वहाँ तुरन्त ।

"सम्मुख! सम्मुख!" गरज उठा वह दिखलाकर गाम्भीर्य ।
कर की असि चमचमा उठी,
मुख-मुद्रा तमतमा उठी,
दीप्त हुआ फिर निर्वापित-सा ब्रिटिश-सैन्य बलवीर्य ।

करके तब उसकी तोपों ने वज्रनाद निस्सीम ।
मानों उत्तर देने को,
अथवा बदला लेने को,
उगली कालान्तक कृशानु की ज्वाला तत्क्षण भीम ।

समझ कृषक ने बिना मेघ के भीषण वज्राघात।
देखा ऊपर को डर कर,
छाती काँप उठी थर थर,
हुआ चौंकने से सिर पर का कान्ता-कलश-निपात।

घुसा कोटरों में कल कल कर पक्षि-समूह सशङ्क।
बाँ बाँ बाँ करके गायें,
भागीं झट दाँये बाँयें,
गृह-द्वार पर पहुँच हाँफने लगीं मौन सातङ्क।

फिर भी, फिर भी उन तोपों का वही विकट हुङ्कार :
किया धुँए ने अन्धेरा,
दशों दिशाओं को घेरा,
बजे बृटिश-रणवाद्य-भयंकर कर झर झर झङ्कार।

फिर भी, फिर भी उन तोपों का वही विकट हुङ्कार :
कम्पित करके भूतल को,
और विदीर्ण रणस्थल को,
उठा भीम रव, फटा गगन-सा, बरसे वज्राङ्गार !

उसी भीम रव से प्रमत्त हो भिन्न शूर, मन-वेग,
धूम धूसरित देह सभी,
पैदल और सवार सभी,
टूट पड़े अरिदल के ऊपर, लोहा बजा विशेष।

आँखें झुलसाकर क्या बिजली मचारही यह धूम ?
शत शत असियाँ फिरती हैं,
शत्रु-शिरों पर गिरती हैं,
करके निज प्रतिबिम्ब निरीक्षण रवि-किरणों में घूम।

गोला एक अचानक छूटा लाल लाल विकराल।
लगा पैर में वह आकर,
जिससे घनाघात पाकर,
पृथ्वी पर गिरपड़ा पेड़-सा मीर मदन तत्काल।

हुर्रे हुर्रे कहकर तत्क्षण गरज उठे अँगरेज़।
तब नवाब के सैनिक गण,
भय से छोड़ छोड़ कर रण,
भाग उठे पीछे को फिर कर सह न सके वह तेज।

"लौटो, लौटो, अरे यवनगण," गरजा मोहनलाल—
"ठहरो, ठहरो, क्षत्रियगण,
भागे यदि तुम तजकर रण,
तो निश्चय ही निकट समझना तुम सब अपना काल।

भागे यदि तुम लोग भीरु सम छोड़ आज संग्राम।
इसे जान रखना तो फिर,
धड़ पर नहीं रहेगा सिर,
जाना होगा तुम्हें सबान्धव एक साथ यम-धाम।

पाओगे न कहीं भारत में तुम विश्राम-स्थान।
क्यों नवाब का सिर खाने—
आये थे बल दिखलाने ?
नहीं बचोगे, नहीं बचोगे, अरे यवन–सन्तान !

सेनापति, छी ! छी ! यह क्या है ? धिक है तुम्हें न लाज !
किस प्रकार यों यहाँ अहो !
कठपुतली की तरह कहो,
एक ओर तुम खड़े हुए हो धारण कर रण-साज !

यह देखो, यह देखो, देखो, ज्यों चित्रित प्राचीर
सैनिक-पंक्ति तुम्हारी है,
खड़ी अकारण सारी है,
समर–सिन्धु की लहरें क्या वह गिनती है गम्भीर !

क्या तुम नहीं देखते हो यह सत्यानाश समक्ष ?
जाता है स्वतन्त्रता-धन,
और बंग का सिंहासन,
डूब रहा सर्वस्व सामने, है अब किस पर लक्ष ?

क्या विचारते हो कि शत्रु जन दे कर तुम को हार
समर छोड़ घर जावेंगे,
फिर न यहाँ पर आवेंगे,
होगा फिर भी बंग देश में यवनों का अधिकार ?

मूर्ख हुए तुम, कोहनूर मणि पाकर मिट्टी खोद।
करके उसे कौन निक्षेप,
घर जाता है मिट्टी लेप?
या कि कंकड़ों से बदले में भर कर अपनी गोद?

किंवा किये बंग में हैं जो तुमने अत्याचार।
दिये तुम्हारे सौ दुख भोग,
मरे अभागे हिन्दू लोग,
उसका प्रायश्चित्त-काल सा आया है इस बार?

मत समझो इन वैरिजनों को वणिक मात्र सामान्य।
देखोगे तुम इनके हाथ!
राजा, राज्य और व्यवसाय—
समर-विपणि में आयुध-विनिमय, लाभ विजय प्राधान्य।

गाँठ बाँध रक्खो, यदि रण में हुआ पराजय प्राप्त।
तो दासत्व-शृंखला-भार,
नहीं मिटेगा किसी प्रकार,
जीवन-संशय उपजावेगा पारतन्त्र्य-विष-व्याप्त।

है तुम से पददलित आज जो हिन्दू जाति अनाथ।
एक शृंखला ही में तब,
इसे समझ रक्खो तुम सब,
बँधना होगा तुम्हें शीघ्र ही यहाँ उसी के साथ।

अति अधीनता और अनादर सह सह कर अनिवार।
कैसे तुम पाओगे त्राण ?
किस प्रकार रक्खोगे प्राण ?
हृदय जलेगा, हृदय जलेगा, होगा तप्तांगार।

शताब्दियों तक गीध सैकड़ों तीक्ष्ण चञ्चु-शर तान।
यह हृत्पिण्ड विदीर्ण करें,
इस प्रकार हम क्यों न मरें,
यह स्वीकार हमें है, फिर भी, फिर भी हे भगवान !

कभी एक दिन—किसी एक दिन—जन्म जन्म में हाय !
बस, परतन्त्र न हों हम लोग,
करें न अतुल यातना-भोग
पड़ कर निर्मम नर-गृद्धों के हाथों में निरुपाय।

मत खोओ, मत खोओ, तुम ओ, मूर्ख यवन, यह रत्न।
यह सु-दिव्य धन खोओगे,
तो जीवन भर रोओगे,
पा न सकोगे इसे कभी फिर करके लाख प्रयत्न।

वीरप्रसू मुगल-महिलाएँ हैं मंदय विख्यात।
कुल-कुठार ये सब ऐसे,
जनें उन्होंने हैं कैसे ?
चञ्चल हुई यवन-लक्ष्मी अब निश्चय है यह बात :

पहनाया था प्रणय-कुसुम मय हार जहाँ अनमोल ।
किस मुँह से ओ मोहासक्त,
अरे, भीरु, अज्ञान, अशक्त,
पहनावेगा उसी कण्ठ में दास्य-शृंखला, बोल ?

हाय ! चिरोपार्जित वह अपना कुल-गौरव सिर मौर ।
कैसे तुम वह मन्जु मयंक,
करते हो मसिमय—सकलंक ?
उससे अधिक यवन लोगों का क्या गौरव है और ?

भुवन-विदित भुजबल से अर्जित उसी सुयश के हेतु ।
वनिता-दुहिताओं के अर्थ,
असि लो, असि लो, बनो समर्थ,
भारत के हित युद्ध करो सब, फहराओ जयकेतु ।

कहाँ वीर क्षत्रियगण रण में यम सम विक्रम विशेष ?
छी ! छी ! छी ! यह कैसी बात ?
करके कुल-गौरव का घात,
दिखलाते हो शत्रुजनों को पृष्ठ देश अनिमेष !

वीरों की सन्तति हो तुम सब वीरों के अवतार ।
कैसे भागे जाते हो ?
कुल को दाग़ लगाते हो !
होकर सिंह-कुमार कार्य्य में बनते हो तुम स्यार !

कैसे निज क्षत्रिय समाज में-फिर कर तुम यों आज—
दिखलाओगे अपना मुख ?
इस जीवन में है क्या सुख ?
पत्नी, पुत्र हँसेंगे तुम पर, नहीं लगेगी लाज ?

विश्रुत है क्षत्रिय वीरों का साहस मात्र सहाय।
उस वीरत्व-विभाकर में,
ग्रहण लगा कर तुम घर में—
आज घुसोगे कहो, कौन सी आशा लेकर हाय !

क्या है भला तुच्छ जीवन यह रहता हो यदि मान ?
रक्खेंगे, रक्खेंगे मान,
जावें तो जावें ये प्राण।
साधेंगे, साधेंगे हम निज स्वामी का कल्याण।

तो फिर चलो, बन्धुगण, फिर से लौटो, चलो अबाध्य।
देखें अँगरेजों का दल,
सित शरीर में कितना बल।
जीते आर्य-सुतों को रण में, किससे है यह साध्य ?

वीर पूर्वजों का शोणित है हम में ओतप्रोत।
रहते अपने दम में दम,
रण से नहीं हटेंगे हम।
रुक न जायगा अंगों का जब तक रक्त-स्रोत।

भारत-वीर्य्य दिखावेंगे हम लेकर उन से वैर।
बल से हिमगिरि को टालें,
या वे उसको ढा डालें।
टला सकेंगे किन्तु न रण में हमें एक भी पैर।

यदि दिनकर को भी उखाड़ कर अपने बल से शत्रु।
करें समुद्र-निमग्न अभी,
पर क्षत्रिय दल को न कभी
टला सकेंगे रण में बल से या कौशल से शत्रु।

चलो, चलो, हे वीर बन्धुगण, अब असह्य है देर।
देखें, कौन विजय पावे,
कौन अधिक बल दिखलावे।
भारत-वीर्य्य दिखावेंगे हम शत्रुजनों को घेर"।

सुन यह भाषण फिरा यवन-दल, लौटे क्षत्रिय वीर।
ज्यों सागर के कल कल्लोल,
चलते हैं दल बाँध विलोल।
चलता है जिस समय भयंकर चण्डोद्दण्ड समीर।

हुआ तुमुल संग्राम वहाँ फिर भीषण शस्त्राघात।
उगल उगल कर पावक, धूम,
गरजीं घन घन तोपें घूम।
होता है मेघों में जैसे उग्र अशनि-सम्पात।

निर्दय-हृदय-नियति देवी ने किया निरन्तर नाच ।
अभी उधर तो अभी इधर,
समझे उसको कौन किधर ?
अब की बार ब्रिटिश वीरों को लगी हार की आँच ।

तूर्यध्वनि सुन पड़ी अचानक प्रस्तुत कार्य विरुद्ध—
"रुको वीर, विश्राम करो,
अब न और संग्राम करो ।
आज्ञा है नवाब साहब की अब कल होगा युद्ध !"

लिए हुए तलवार उठे के उठे रह गये हाथ ।
अगले पैर न पड़ पाये,
गये वहीं हय ठहराये ।
चकित हुई सेना नवाब की, रुकी एक ही साथ ।

शिखर-वाहिनी शैल-नदी ज्यों लेकर जल-प्रवाह ।
लता, गुल्म सह वृक्ष उखाड़,
छिन्न भिन्न कर उनके झाड़ ।
अर्द्ध मार्ग में शैल-रुद्ध हो तो पाने को राह ।

अचल शिलाओं से लड़ लड़ कर उनको किसी प्रकार ।
एक बार यदि टला सके,
अपनी ऐसी चला सके ।
तो वह शिला उखाड़ भूमि पर गिरती है अनिवार ।

त्यों हीं एक बार टल पाया ज्यों ही यवन-समूह ।
आगे को संगीन किये,
मानों मघवा वज्र लिये ।
टूट पड़ा पीछे से यम-सम अँगरेज़ों का व्यूह ।

बिंधी किसी की पीठ, किसी का कण्ठ, किसी का वक्ष ।
वृष्टि-बुन्द-सम जहाँ तहाँ,
वैरी गिरने लगे वहाँ ।
खप्पर भरे समर-चण्डी के और काल के कक्ष ।

झन झन करके घन घन घन सम ब्रिटिश-वाद्य-संघर्ष ।
कम्पित कर समरस्थल को,
कम्पित कर गंगाजल को ।
बंग-विजय की उच्च घोषणा करने लगा सहर्ष ।

मूर्च्छित होकर अस्ताचल पर गिर कर घूर्ण विघूर्ण
निष्प्रभ शोणित लोहित काय,
गया अस्त होने रवि हाय !
गया अस्त होने यवनों का गौरव-रवि सम्पूर्ण ।

शान्त हुआ नर-तरु उखाड़ कर खर तर समर-समीर
वृष्टि रुकी, सविषाद पवन है बहता शिथिल शरीर ।

मूर्च्छित मोहनलाल पड़ा था, हुआ उसे जब चेत,
देखा उसने उठा म्लान मुख, नयनखोल रण-खेत ।

क्षत शरीर से रुधिर बहा तब करके शोकोद्गार
बोल उठा वह यों अस्तंगत रवि की ओर निहार-

"कहाँ चले, फिर कर तो देखो, एक बार दिनराज!
तुम डूबे तो डूब जायगा यवन राज्य भी आज।

आवेगी उनके अभाग्य की अटल अँधेरी रात,
निर्मम होकर चले न जाना करके यों पविपात।

उदित हुए थे आज यहाँ तुम कैसे भाव विलोक,
अस्त हो रहे हो अब कैसा दृश्य देख, हा शोक!

देव, तुम्हारा अर्द्धावर्तन हुआ न जब तक पूर्ण,
अर्द्धधरा का भाग्य-चक्र यह कैसा हुआ विचूर्ण।

क्या ही अद्भुत है अदृष्ट-गति, सरल और अति वक्र,
पलक न पड़ते पड़ते कैसा फिरता है चिर-चक्र

किसकी उन्नति किसकी अवनति होगी एकाएक,
कर सकता है क्षण भर पहले इसका कौन विवेक!

कल था जहाँ सुरेन्द्र-सदन सा, विजन विपिन है आज,
समय-स्रोत बहा देता है कितने राज-समाज!

युवक सिराजुद्दौला पड़ कर इसी स्रोत में हाय!
आज पलासी में भी बैठा राजमुकुट निरुपाय।

सत्य कहाँ वह विदित, कहाँ वह भारत है भगवान,
जिसने गिरि, वन, सिन्धु बीच में खोजा था स्वस्थान।

नहीं देखता है भारत के चन्द्र, सूर्य्य वह देश,
और देखता नहीं ब्रिटन के चन्द्र, सूर्य्य यह देश।

कभी वायु या मनः कल्पना गई न इतनी दूर,
कह सकता हैं कौन भला फिर है वह कितनी दूर ?

वह आकाश-कुसुम है अथवा शून्यस्थित मन्दार,
भारत के इँगलैंड–विषय में थे बस यही विचार।

आज वही इँग्लैंड स्वप्न-सा, विस्मय पूर्ण, विचित्र,
भारत-भाग्य-गगन में सहसा उदित हुआ है मित्र !

शीघ्र अस्त होगा न सूर्य्य वह होकर संध्याकृष्ट,
कभी अस्त होगा कि न होगा, जानें इसे अदृष्ट।

और बहुत दिन यवन अभागे छोड़ राज्य की लाज,
वङ्ग-रङ्ग भू पर न सजेंगे परिस्तान के साज।

होगा अब निश्चय ही होगा उनका विभव विलीन,
आज नहीं तो कल या परसों भारत ब्रिटन-अधीन।

किस क्षण में था किया प्रभाकर, तुमने आज प्रभात ?
बीती थी किस क्षण में आहा ! बीत चुकी जो रात ?

भारत-हृदय-गगन में करके अन्धकार भरपूर,
स्वतन्त्रता की अन्तिम आशा चली गई अति दूर।

देख देख यह यवन-पतन वह महाराष्ट्र उत्थान,
गाता था न कौन हत हिन्दू उस आशा का गान !

किन्तु जहाँ अब अस्त हुए तुम-और क्या कहूँ हन्त !
बुझ जावेगी तिमिर छोड़ वह आशा-ज्योति ज्वलन्त ।

हाय ! डुबा कर शोक सिन्धु में तुम यह दुर्विध देश,
डूब गये हो क्या नितान्त ही अब हे देव दिनेश !

तो जाओ, क्या कहूँ और मैं, जाओ अपने धाम,
अब न लौटना, भारत में है क्या प्रकाश का काम !

आजीवन कारागृह में ही करते हैं जो वास,
लज्जा का कारण होता है उनके लिए प्रकाश !

कल जब खोलोगे सहस्र कर, पूर्व दिशा का द्वार,
देखोगे तब तुम भारत में नये दृश्य का ज्वार ।

आज अस्त तो कल फिर समुदित होगे तुम आदित्य !
दिवस गया फिर आ जावेगा यही नियम है नित्य ।

किन्तु न लौटेगा यवनों का गौरव-रवि अब और;
भारत का यह दिन फिरने का नहीं किसी भी तौर ।

लौटेंगे न कभी मृत तनु में गये हुए वे प्राण,
रण में निहत हुए जो इन विधि पा न सकेंगे त्राण ।

मृत देहों से दबी आज जो रूखी सूखी घास,
दिखलायेगी कुछ दिन में फिर निज नव शक्ति विकास ।

मृत देहों के नीचे दब कर आज पा रही ताप
एक वर्ष के पीछे लेंगी उनसे उत्तर आप !

आओ सन्ध्ये, अहो ! तुम्हारे भूरि भाल पर भव्य,
दमक रहे नक्षत्र रत्न हैं दिखला कर द्युति नव्य ।

किं वा सुन कर यवन जनों के दारुण दुख का हाल,
हाथों से पीटा है तुमने अपना दीर्घ कपाल ।

निकले इसी लिए हैं क्या ये शोणित-विन्दु नितान्त !
तो आओ, तुम शीघ्र पसारो निज धूसर-पट-प्रान्त ।

हत भाग्यों के वदन छिपालो दुःख-विकृत अति दीन,
तिमिर-वृष्टि कर समर भूमि को करो उसी में लीन ।

कल सन्ध्या के समय अभागे वनिता-वृन्द-समक्ष,
फुला रहे थे अहङ्कार से उद्धत अपने वक्ष ।

रजनी में करते थे सुख से उन के साथ विहार,
फिर प्रभात के समय हुए थे लड़ने को तैयार ।

होने पर मध्यान्ह हुए थे रण मदमत्त सगर्व,
पड़े हुए हैं अब संध्या को रण-शय्या पर सर्व ।

अश्वी-अश्व, विपक्षी-बान्धव, रवि न हो सका अस्त,
पड़े एक ही साथ समर में क्षत्रिय-यवन समस्त !

होता था आमोद पूर्ण निशि होने पर जो वंग,
उठते थे आकाश स्पर्शी जिसमें नाट्य-तरंग ।

हाहाकार आज छाया है उसमें चारों ओर,
जलते नहीं कहीं भी दीपक, अन्धकार है घोर ।

पतिहीना पत्नियां विकल हैं, भ्राता भ्रातृ-विहीन,
पुत्र-विहीन पिता पृथ्वी पर लोट रहे हैं दीन।

भारत के रोने धोने का नहीं यहीं विश्राम,
नहीं पलासी के संगर का यही पूर्ण परिणाम।

निकला जो यह स्रोत शक्ति का बंग भूमि को फोड़,
शीघ्र कुमारी से हिमगिरि तक घूमेगा जल-जोड़।

जलधि लाँघ लंका पहुँचेगा, होगा दीर्घाकार,
क्रम क्रम से होगा फिर इसमें झंझागति-संचार।

होगा यही पूर्ण बल से यह जब नद-सदृश, अथाह,
किसका बल है रोक सके तब इसका प्रबल प्रवाह?

आज पलासी में जो सित घन हुआ अचानक प्राप्त,
सारे भारत भाग्यगगन में बढ़कर होगा व्याप्त।

प्रलय-वृष्टि होगी झंझायुत, अन्धकार सर्वत्र,
उड़ जायेंगे सभी पुराने राजा, राजच्छत्र।

किन्तु शांत हो जायेगी जब झंझायुत यह वृष्टि,
भारत-गगन मध्य तब होगी शान्ति-सुधाकर-दृष्टि।

आज तुम्हारा क्लाइव सुख का दिन है अनलोप!
लगा तुम्हारे हाथ आज जो रक्त रंग रण-दीप।

एक बार ईर्ष्या-आशावश होकर सब यूरोप।
देखेगा इसको विस्मय से विस्फारित दृग रोप।

तो जाओ झट झंझागति से हे समीर, साह्लाद,
दो जाकर इँग्लेंडराज को तुम यह शुभ संवाद।

सुनकर श्वेतांगियाँ सिन्धु में नाचेंगी तत्काल,
यथा नाचते हैं मानस में मिलकर मंजु मराल।

प्रतिध्वनित करके वे सारा द्वीप गिरा-गुज्जार,
ब्रिटिश-विजय के गीत सगौरव गावेंगी बहु वार।

और आज भारत का—उसका, है जो सदा अधीन.
नहीं असुख का दिन भारत का—उसका जो चिरदीन।

इस पिंजड़े से उस पिंजड़े में हो जावे जो बन्द,
तो क्या सुख,क्या असुख विहग को? कब है वह स्वच्छन्द?

पर-वश स्वर्ग-वास से अच्छा निजवश नरक-निवास,
स्ववश भिखारी भी राजा है पर-वश नृप भी दास।

नहीं चाहिए हमें स्वर्ग—सुख नन्दनवन के संग,
यदि मिल सके-किन्तु हा! सहसा हुआ स्वप्न वह भंग।

जो हो, पर-वश भी भारत का नहीं असुख-दिन आज,
कारण ? हत बल हुआ आज से उद्धत यवन समाज।

धनी, निर्धनी, मध्यवित्त या अबल, सबल सब लोग,
किया करेंगे यहाँ आज से निर्भय निद्रा-भोग।

हुआ राज्य-अभिनय यवनों का इतने दिन में पूर्ण,
गिरी यवनिका और हुई वह चटक मटक सब चूर्ण।

यवन राज्य होगा विस्मृति-गृह काल-गर्भ में लीन,
अब प्रवेश कर दिखलावेंगे नव नट नाट्य नवीन।

करके अति उच्छ्वसित हृदय को आज यहाँ सविषाद,
वह सुदीर्घ अभिनय आता है अंक अंक कर याद।

कितना सुख-दुख- पूर्ण बनाया विधि ने भारत-भाल ?
प्रिय पुत्रों के हित वह कितना रोया है चिरकाल ?

सदा अभागे ने झेले हैं कितने विषमय बाण ?
और सहे कितने उत्पीड़न करके उर पाषाण ?

अब भी प्राण काँप उठते हैं अत्याचार विचार,
खर तर असि-रसना के बल से हाय ! धर्म्म-विस्तार ?

किन्तु व्यर्थ, उस दीर्घ कथा से अब क्या ? निस्सन्देह,
भरे यवन-अत्याचारों से इतिहासों के गेह।

अरे, किन्तु क्या रत्न न थे उस कलंकाब्धि के बीच !
हुए यवन-सम्राट यहाँ जो सभी हुए क्या नीच ?
अधम अलाउद्दीन और था उद्धत आलमगीर,
तो क्या न थे साथ ही विश्रुत बाबर, अकबर वीर ?

लिपटी है गोधूलि दिवा के अञ्चल में चुप चाप,
इसी लिए कितनी ही शुभ्रता जँचे क्यों न वह आप।

यदि न दिवाकर होता, जो है विश्व-दीप निष्काम,
तो फिर हमें रात ही जैसा दिन भी होता ज्ञात।

ऐसे ही स्वतन्त्र समदर्शी आर्य्य राज्य के बाद,
है निज जाति-प्रवण सिद्ध जो यवन राज्य अविवाद ।

कहा जाय कितना ही कलुषित वाम और अति वंक,
पर अन्यत्र न जँचता शायद वह इतना सकलंक ।

संशय है, जँचता कि न जँचता रावण घृण्य चरित्र,
खींचा जाता यदि न राम के सम्मुख उसका चित्र ।

उस सुख-दुःख-स्मृति से अब क्या यथा-'जले पर लौंन,'
यवन-अभाग्य आरहा है वह नैशतिमिर-सा मौन ।

जो सन्ध्या औरंगजेब के अस्त समय सज साज,
यवन-लोक में आई थीं, यह उसकी निशि है आज ।

तम में यवनराज्य डूबेगा, रह जावेगी याद,
होंगे तत्समाधि-गृह दिल्ली और मुर्शिदाबाद !

न था जगत में यवनों का सा वीर्य्य और ऐश्वर्य्य,
अस्तोदय पर्यन्त विदित था उनका विक्रमवर्य्य ।

उसी विकट विक्रान्त जाति का सिंहासन सुविशाल,
गिरि-सम था विप्लव-समुद्र में अटल पाँच सौ साल ।

कौन जानता था कि राज्य वह आज एक ही साथ,
गौड़-मन्त्रणा से गत होगा वणिग्गणों के हाथ !

अथवा कर्म्म-दोष से विधि जब हो जाता है वाम,
करता है तृण भी छाती पर कठिन कुलिश का काम ।

जिस बलवती जाति ने आकर भारत में अनिवार्य्य,
किया पाँच सौ वर्ष पूर्व था राज्य स्थापन-कार्य्य ।

हैं क्या सारे कुल-कुठार ये उसी जाति से जात ?
खो बैठे हैं जो कि आज वह राजमुकुट विख्यात ।

सन्तत खड्ग खुला रख रण में रहती थी जो जाति,
थी सर्वत्र सदा ही जिसके शौर्य, वीर्य्य की ख्याति ।

वही जाति बन रही हाय ! अब विषय-वासना-वास,
झूल रही अबला- अञ्चल में करती हुई विलास ।

कुछ दिन पीछे—क्यों कि अटल हैं विधि के सभी विधान,
क्रीड़ा-पट पर दीख पड़ेंगे द्विविध मुग़ल-पठान ।

अथवा उन बेचारों पर क्यों करूँ व्यर्थ ही रोष ?
दोष दैव का और अभागे भारत का है दोष ।

होगा कोई राज्य चिरस्थिर यहाँ न ध्रुव-सा धीर,
है किस विष से व्याप्त न जाने इसका नीर-समीर ।

आता है जो विकट वीर भी यहाँ सतेज, दुरन्त,
वामा-मृदु बनता है करके वामा-स्पर्श तुरन्त ।

नस नस में बहने लगती है प्रबल इन्द्रियासक्ति,
नारी बनते हैं नर, बनती भोग-लालसा शक्ति ।

आर्य जाति के साथ यहाँ जो आया शौर्य-प्रवाह,
पाला कौन सा रत्न न अनुपम इसके भीतर आह !

कोहनूर वह एक मुकुट में ब्रिटिशराज्ञि, तुम जोड़—
गौरी के ललाट-लोचन की किया करोगी होड़ ।

दे कर आर्य्य-हृदय-रत्नाकर यह भारत साह्लाद—
कितने कोटि कोहनूरों से पूजेगा तव पाद ।

भारत में जिस समय हुई थी श्रुति-मन्त्रों की सृष्टि,
था मानों गर्भस्थ रोम तब खुली नहीं थी दृष्टि ।

निज बल से जिस आर्य्य जाति ने फहराकर जयकेतु
पृथुल पहाड़ काट कर बाँधा दुर्गम-सागर सेतु ।

जिसके अस्त्रों से अनन्त में रोका गया दिनेश,
कम्पित रहा रसातल में भी वसुधा—वाहन शेष ।

विश्व विदित जिसके बाणों ने नभ को भेद नितान्त
चामीकर चम्पक समूह का हरण किया अश्रान्त ।

जिसके पदाघात से गज भी हुए गगन में क्षिप्त,
तीनों लोक हुए है उज्वल जिसके यश से लिप्त ।

जिसने अपने अनुपम बल से जीता है संसार,
जिसका कीर्ति-कथामृत अब भी पीता है संसार ।

अरे विधाता, उसी जाति ने किया कौन सा पाप ?
जिससे भोग रही वह अब यों अवनति मय अभिशाप !

जिस सिंहासन पर रावण—रिपु रामचन्द्र भगवान—
बैठा करते, बैठा करते कुरु-कुलपति श्रीमान ।

रखते थे जिनके चरणों में मुकुट असंख्यक भूप,
कुरुक्षेत्र-विजयी विश्रुत थे दया-दान के रूप।

धर्मपुत्र धीमान युधिष्ठिर बैठा करते नित्य
जिनकी गाथा से सुगौरवित हुआ आर्य-साहित्य

उसी श्रेष्ठ सिंहासन पर, क्या कहूँ,—शरम की बात
बैठा कौन दास यवनों का—मूर्तिमान उत्पात !

'सुई बिना शूच्यग्र भू न मैं दूँगा किसी प्रकार'
जिसके विश्रुत पुरावृत्त में है यह व्यग्र विचार।

उसी जाति ने पतनापन में आत्मघात कर ओह !
पराधीन कर दिया देश को किया आत्मविद्रोह।

सत्रह यवन सवारों से ही डर कर घर से भाग,
सोने का बंगीय राज्य भी दिया उन्हीं ने त्याग !

देकर उस शूच्यग्र भूमि के बदले निस्संकोच,
विदेशियों को सारा भारत किया नहीं कुछ सोच !

यों परावलम्बी होकर वह दुख से है हा हन्त !
होगा कहाँ—दैव ही जानें—इस अवनति का अन्त !

पतनापन में मग्न हुआ जो भारत-भानु उदार
समुदित हुआ न वह भारत में करके पुनः प्रसार।
पूर्ण पौत्र भी गये बाद उस गौरांगकुल पर, क्रूर,
दीख पड़ा उनका कटाक्ष कुछ आशा से भरपूर।

किन्तु पलासी में पाकर इस सित घन न सुविकास,
अन्धकार मय किया अचानक भारत का आकाश।

करके इस-मेघाडम्बर को वही प्रभाकर पार,
भारत में क्या कभी उदित अब होगा किसी प्रकार ?

उदय-अस्त प्राकृतिक नियम हैं मानों नियति-निमेष;
किं वा कब तक रह सकती है घन की छाया शेष ?

आज पलासी-रण-शोणित में करके जिसे निमग्न,
नहीं कहेंगे, नहीं सुनेंगे भारत वासी भग्न।

भूल जायँगे एक बार ही वे चिर दिन के अर्थ,
अये कल्पने, उस आशा को कहती है क्यों व्यर्थ ?

रहे पलासी क्षेत्र, रहें वे आहत सैनिक लोग,
उनका तरल रुधिर लावेगा शीघ्र युगान्तर-योग।"

तत्क्षण बहा विदीर्ण वक्ष से रक्त- स्रोत अमन्द,
मोहनलाल न बोल सका फिर हुए विलोचन बन्द !!

पञ्चम सर्ग

(आशा का अन्त)

घर घर उत्सव मचा हुआ है आज मुर्शिदाबाद में,
उछल रहा संगीत-सिन्धु-रस, मग्न सभी आह्लाद में।

दीपों की माला पहने है सरस सुन्दरी यामिनी,
बनी राजधानी है नूतन पतिंवरा-सी कामिनी।

अधम मीरजाफर अफीम से झींम रहा है झूम कर,
झँपक लाल दृग झलक रहे हैं पलक जाल में घूमकर।

उसे पलासी-जेताओं ने, जिनका नहीं जवाब है,
वंग, बिहार, उड़ीसा का अब माना नया नवाब है?

फैला कर यह मकड़-जाल वह धूर्त जालिया बेहया,
अमीचन्द हठशील, सेठ शठ, कपट-तीर्थ करने गया।

नेत्र द्वय हो रहे निमीलित, मुद्रा अति गम्भीर है,
पट्टवस्त्र परिधान किये है, कम्प विहीन शरीर है।

मुख-मयंक पर राहु कि घन की छाया मानों आपड़ी,
कारागृह में रहने से है हुई मूँछ-दाढ़ी बड़ी।

उत्तरीय है पड़ा गले में और जानु पर हाथ है,
कर्म्म-भोग की नीरवगणना करन्यास के साथ है।
रह कर यों मुंगेर-दुर्ग में सहकर मन ही मन व्यथा,
कृष्णनगर-पति कृष्णचन्द्र नृप पूजा-रत हैं सर्वथा।

क्यों पूजा का ढोंग किया है इस प्रकार नरराज ने?
उनके प्राण-दण्ड की आज्ञा भेजी यहाँ सिराज ने।

पूजा कर नृप-दण्ड सहेंगे काल दण्ड सा वे अभी,
अभी? किन्तु क्या पूर्ण सहज में होगी यह पूजा कभी?

यह पूजा सामान्य नहीं है, इस पर ही तो त्राण है,
जब तक पूजा करते हैं वे तब तक उनका प्राण है।

पूरा होता नहीं इसी से, कैसा गहरा ध्यान है!
नहीं इस समय मानों उनको बाहर का कुछ ज्ञान है!

दीर्घ श्वास छोड़ते हैं बस, क्या अभाग्य, क्या दैन्य है!
वायु-शब्द से चौंक सोचते आया क्लाइव-सैन्य है।

अये कल्पने, कहाँ? लौट आ पुनः मुर्शिदाबाद को,
कौन कहाँ जाता है तज कर यों उत्सव-आह्लाद को?

जाता कौन अन्धवन में है मन्जु-कुञ्ज को छोड़ के?
उठती है आलोक-राशि वह देख, तिमिर को तोड़ के।

नीचे से उठकर ऊपर को द्युति-धारा-सी वह चली,
है दिग्दाह कि दावानल से जलती दूर वनस्थली?

उत्सव का कोलाहल सुन कर होता ऐसा भान है–
उठा दूर आमोद-विपिन में यथा एक तूफान है।

आज ब्रिटिश की विजय घोषणा जन जन करता जा रहा,
उसे पत्र-मर्मर, समीर-रव, गंगा-जल भी गा रहा!

शत-सहस्र-दृग-जल-रेखाएँ उसका चित्र बना रहीं
कितनी मुदित मुखाकृतियाँ हैं उसका भाव जना रहीं!

और, भारतादृष्ट-ग्रन्थ में अमिट अक्षरों से अहा!
देखो वह व्योमस्थ विधाता 'ब्रिटिश-विजय' है लिख रहा।

यत्र तत्र एकत्र पौर जन करते हैं आलोचना,
क्लाइव-शौर्य्य बखान रहे हैं सत्यशील, उन्नतमना,

कितनों के मत में क्लाइव की विजय मन्त्र-बलसे हुई,
ऐसी बात कभी नर-बल से किंवा कौशल से हुई!

मूर्खों के कल्पना-स्रोत में उठता जब उच्छ्वास है,
यों ही वहाँ असम्भव सम्भव होता विना प्रयास है।

वर्षा में ज्यों शुष्क नदी भी होती ओतप्रोत है,
वहां रही उत्सव में त्यों यह नगरी मनुज-स्रोत है।

अभिषेकोपलक्ष्य में सज्जित नव नवाब-प्रासाद है,
राग-रंग मय मोद मचा है; कल कोलाहल नाद है।

सभी देखते हैं, सुनते हैं, फैल रहा आलोक है,
दर्शक जन आते जाते हैं, नहीं किसी की रोक है।

पामर, चाटुकार-गण सम्मुख बैठा हुआ विनोद से—
चित्र खींचता है भविष्य का, रँग कर स्वर्गामोद से ।

सोच रहा है पापी मीरन—शासन जब वह पायगा—
तब विपत्तियों के निज कर से कितने शीश उड़ायगा !

इसी समय, नर-घातक-सा था जिसके माथे पर लिखा,
उपल हृदय, अघ-लोह-वर्म्म युत, आँखोंमें थी खर शिखा।

दुष्प्रवृत्तियों से विकृताकृति एक भृत्य पहुँचा विकट,
आभूतल मस्तक नत करके, हाथ जोड़ आया निकट ।

बोला यों-"युवराज, जान्हवी-तिमिर-गर्भ-खनि में अभी,
पहुँचा दीं दुर्विध नवाब की वे रमणी-मणियाँ सभी ।

कैसा हृदय-द्रावक क्रंदन हाय! उन्होंने था किया,"
बोल सका वह फिर न, किसी ने मानों गला दबा दिया ।

नीरव जड़ सा खड़ा रहा वह कुछ क्षण तक सिर नत किये,
बोला फिर—"युवराज, हाय ! इस निज दग्धोदर के लिये-

कितने अघ कितनी हत्याएँ की हैं पर अब बस यहीं,
हाहाकार कभी जीवन भर भूलूँगा वह मैं नहीं—

जो मुमूर्ष उन अबलाओं के कण्ठों से निर्गत हुआ,
गंगाजल को भेद तिमिर में जिसने नभ को था छुआ ।

नियति-वचन-सा सुना गया तब यह उस हाहाकार में-
'बिना दोष हम अबलाओंको डुबा दिया मँझधार में ।

विना मेघ के वज्रपात से मीरन मारा जायगा,
अधम मीरजाफर भी सत्वर पूरा प्रतिफल पायगा।"

सुन पापी नारीहन्ता की बातें ये निर्मम निरी,
मीरन के तन में पैरों से सिर तक बिजली-सी फिरी।

अचल भाव से दृष्टि लगाकर कुछ क्षण तक प्राचीर में,
कम्प हुआ फिर सहसा उसके मद से विवश शरीर में।

खिला गया सारा विनोद वह महातंक सा आ अड़ा,
इसी समय में अँगरेज़ों का हिप हिप हुर्रे सुन पड़ा।

अँगरेज़ों की शिविर-श्रेणी है अदूर, उद्यान में,
जलते हैं तम में प्रदीप ज्यों तारे व्योम-वितान में।

शत शत रत्नों ने सूना कर वंग-राज्य-भाण्डार को—
बढ़ा दिया है अँगरेज़ों के सुख, विहार, व्यापार को।

मोद-सिन्धु में हृदय मग्न है, साज-बाज सब आ जुटा,
हा! के वार विजेताओं से यों ही भारत है लुटा।

हा! माँ भारत-भूमि, दैव ने तुम्हें स्वर्ण-सू क्यों किया
क्यों मधुमय मधुचक्ररूप में मरण मक्खियों को दिया?

कौन मारता उनको रखतीं यदि मधु-सुधा न वे सदा,
होती स्वर्ण-प्रसू न यदि तुम तो क्यों लुटतीं सर्वदा?

यदि होती अफरीका की मरुभूमि कि स्विस पाषाण तुम,
तो उत्पीडन से तो मातः, पातीं जग में त्राण तुम।

पुत्र तुम्हारे हीन न होते यों अबला-सुकुमार तब,
उन सब की नस नस में होता उष्ण रुधिर संचार तब।

सबल, सजीव पुरुष-सिंहों से होती तुम परिपूर्ण माँ,
जागरूक होता दिगन्त में तेज तुम्हारा तूर्ण माँ,

बंग देश का भाग्य आज दिन होता अन्य प्रकार का,
अये कल्पने, काम नहीं उस आशा के विस्तार का।

ब्रिटिश-शिविर तेरे सम्मुख है, चल हे चपले, तू वहाँ-
बैठे हैं वे युवक मेज को घेर कुरसियों पर जहाँ।

आया जो बल-वीर्य्य जीत कर प्रबल पलासी-युद्ध है,
हार सुरा के हाथों सम्प्रति हुआ वही अवरुद्ध है।

भग्न काच के ग्लास सुरा की शून्य बोतलें हैं पड़ीं,
छाया है मद-मोद, हुईं सब चिन्ताएँ हट कर खड़ीं।

कोई पृथ्वी पर गिरता है, तन-मन की कुछ सुध नहीं,
कोई तन त्रिभंग कर उठता पर गिर पड़ता है वहीं।

ग्लास शून्य या अर्द्ध शून्य हैं रक्खे हुए कतार से,
पूर्ण किये जाते हैं फिर वे बोतल की कलधार से।

देख एक को एक परस्पर मदिरारुण कृश दृष्टि से,
चूम एक को एक परस्पर प्रणय सम्मिलन सृष्टि से।

उठे शून्य-से इन्द्रजाल से सहसा सैनिक शूर वे,
गाने लगे सुरा से विजड़ित स्वर भर कर भरपूर वे—

गान

मिलकर आज परम सुख के दिन गाओ सभी ब्रिटन की जय,
वह है वीरप्रसू, जगत में अति अजेय हैं ब्रिटिश-तनय।
ब्रिटिश-कीर्ति फैलाने को यह पात्र पूर्ण मधु पान करो
और प्रेम पूर्वक मिल कर सब तीन बार यह गान करो-

हिप हिप हुर्रे, हिप हिप हुर्रे, हिप हिप हुर्रे,

जलधि राज्य परिखा है जिसकी, नृपति श्रेष्ठ ब्रिटिश पति है,
महिमा महा द्वितीय जार्ज की, जल थल में अबाध गति है।
करे दीर्घ जीवी प्रभु उनको, पियो यही इच्छा करके,
गाओ तीन बार मिलकर सब मन में महा मोद भर के,

हिप हिप हुर्रे, हिप हिप हुर्रे, हिप हिप हुर्रे,

किया पलासी-युद्ध-विजय है क्रीडा सहित, सिंह-बल से,
गाओ उनकी विजय जय-ध्वनि उठे गगन में भूतल से।
ढालो मधु ढालो, फिर ढालो, उनकी कुशल मनाओ सब,
आओ मिल कर पियो प्रेम से, तीन बार फिर गाओ सब-

हिप हिप हुर्रे, हिप हिप हुर्रे, हिप हिप हुर्रे,

ढालो अबकी बार याद कर हिम सम स्वच्छ वक्षवाली
ब्रिटिश अनूढाएँ वर वदनी, जिनके होठों पर लाली,
उनके नयन विलास याद कर भरे ग्लास खाली करदो,

तीन बार उल्लास पूर्ण यह गान गगन भर में भर दो—
हिप हिप हुर्रे, हिप हिप हुर्रे, हिप हिप हुर्रे,

नीरव निशि में वह हर्ष-ध्वनि गूँज उठी आकाश में,
गूँजी उपवन और पवन में, उपवनस्थ आवास में।

जगकर तरु-नीड़ों में खग-गण कल कल रव करने लगे,
समझ लुटेरों का कोलाहल जग गृहस्थ डरने लगे।

पहुँची सभामध्य मीरन के कानों में भी ध्वनि वही,
कारागृह में एक अंगना शोच मग्न थी हो रही।

तन्द्रा टूटी, चौंक पड़ी वह भय से यथा कुरंगिनी,
थी दुखिया सिराज की बेगम वही शिविर की संगिनी

मुख पर शोक-मेघ की छाया हुई और भी गाढ़ थी,
रेखा-चिन्ह कपोलों पर कर चुकी अश्रु-जल बाढ़ थी।

रही युगल लोचन कमलों में आभा वह न विलास की
बिला गई होठों की लाली बिजली वह मृदु हास की,

वे दृग युग, वह स्वर्ण वर्ण, वह वदन विभा का पात्र-सा
और सुन्दरी का सुगात्र वह है अब छाया मात्र-सा।

तैर देर तक शोच-तरंगों पर कोमलतर तनुलता,
भूतल पर अवसन्न पड़ी थी सुप्ता और न जागृता।

विजातीय गीत-ध्वनि सुन कर काँप उठी, उठ तीर ज्यों,
मानों अरि सर्वस्व लूटने आये, हुई अधीर यों।

समझ सिंह-गर्जन-सा उसको रह न सकी फिर वह खड़ी,
तत्क्षण छिन्न लता सी ललना मूर्च्छित होकर गिर पड़ी।

कुछ क्षण में चैतन्य लाभ कर वह यों लगी विचारने–
"निश्चय अरि आते हैं मेरे प्राणनाथ को मारने।

उन्हें सदा के लिए देखलूँ एक बार" कह कामिनी,
चली निकलने रुद्ध कक्ष से पागल सी, ज्यों दामिनी :

तत्क्षण लगा कपाट भाल में, स्वर्ण मूर्ति सी गिरपड़ी,
झर झर झरने लगी साथ ही लोहित शोणित की झड़ी।

उसके कारण आर्द्र होगया यों आनन मण्डल अमल—
हुआ रक्तचन्दन से चर्चित मानों सोने का कमल।

हा अदृष्ट! मृदु शय्या पर भी होती थी जिसको व्यथा,
वह यों गच पर पड़ी हुई है, क्या कहिए विधि की कथा!

पिपीलिका-दंशन से जिसको शत किंकरियाँ घेर के–
करती थीं बहु विध परिचर्या बिना तनिक भी देर के।

लोहे के प्रहार से भूपर पड़ी अकेली अब वही,
फुल्ल कमलिनी क्षत यों, रानी हाय! रंकिनी हो रही।

प्राण नहीं जाते हैं अथवा कैसे जावेंगे कहो?
होता नहीं दुःख का जीवन इतना कोमलतर अहो!

मरण दुःखियों को मिलता तो दुःख कौन फिर झेलता,
दुःखी जन जीते न यहाँ तो दुःख कहाँ फिर खेलता?

प्राण नहीं जाते हैं, वामा फिर उसास भर कर जगी,
ध्यान न था निज रक्त पात का, प्रिय चिन्ता ही थी लगी—
किस प्रकार उद्धार पा सके प्यारा प्राणाधार वह,
कैसे उर पर प्राप्त प्रेम का हो फिर पारावार वह।

'अरे विधाता!' निविड़ तिमिर में साध्वी निजकर जोड़के,
रक्तबिन्दुसह अश्रुवृष्टि से भींग धैर्य को छोड़ के।

ऊर्द्ध दृष्टि कर धीरे धीरे बोल उठी गद्गद हुई—
'अरे विधाता, दुखिया पर कुछ दया दिखा अब हद हुई।

सही नहीं जाती है अब यह पीड़ा अबला प्राण से,
माना प्रिय नृशंस हैं मेरे, क्रूर हृदय, पाषाण-से,

पर इतने पर भी दुखिया पर रत है वह उनका हिया,
वैसे ही दुखिया ने उनको आत्मसमर्पण है किया।

कोई ऐसा मन्त्र सुनादे तू दुखिया के कान में,
छूकर ये कारा-कपाट मैं खोलूँ जिससे आन में।

नीरव प्रातः काल समय ज्यों कोमल कर विस्तार से,
ऊषा असित कपाट खोलती पूर्व दिशा के द्वार से।

अथवा हृदय हीन जिस विधि ने निर्दयता के साथ में,
राज्य और सिंहासन देकर शत्रुजनों के हाथ में।

नरहन्ता के हाथ किया है बन्दी यों बंगेश को,
उसके आगे रोने से क्या मेटेगा वह क्लेश को?

मैं पतिगतचित्ता साध्वी हूँ कोई रोक न पायगा,
मेरे छूने से अवश्य ही द्वार आप खुल जायगा।

प्रिय के प्रेम पन्थ में क्या है गिरि, वन, सागर, ह्रादिनी?
यह तो केवल तुच्छ द्वार है" यों कह कर उन्मादिनी,

मृदुल करों से कठिन कपाटों में धक्के देने लगी,
यथा काटने चले चञ्चु से दृढ़ पिञ्जर वन की खगी।

रमणी के शोणित से कारा द्वार कलंकित तब हुआ,
गिरा कपाटों पर कितना जल जो आँखों से था चुआ।

"राज्य छीन कर भी रे पापी, मीरन, हुआ न तुष्ट तू,
अत्याचार हाय! अबला पर करता है यों दुष्ट तू।

मर जाऊँ मैं यहाँ भले ही तेरे अत्याचार से,
एक बूँद भी तुझे न दूँगी पति-रति-पारावार से।

रमणी का पशुत्व बल से जो नीच चाहता है प्रणय,
सलिल चाहता है पावक में और उपल में वह हृदय।"

रमणी-रोदन से न लोहमय द्वार द्रवित होकर खुला,
आश्रय हीन लता सी भू पर बैठ गई वह व्याकुला।

रुधिरस्रोत, शोक के कारण, श्रान्त, भ्रान्त सी होगई!
बैठ न सकी लेटकर दुखिया शीघ्र सदा को सो गई!

नीरव अवनी, निद्रित नगरी, अर्द्ध निशा आरब्ध थी,
शान्त हुई थी उत्सव-झंझा, प्रकृति परम निस्तब्ध थी!

पहरे वालों का पद-रव था, झिल्ली की झनकार थी,
दूर वायु-शंकित श्वानों की भों भों भरी पुकार थी।

कारा-वातायन में केवल कल समीर-सञ्चार था,
और सभी नीरव थे मानों सन्न हुआ संसार था।

केवल नीरव निशा शिशिर मय आँसू थी बरसा रही,
रमणी-मरण शोक से नीरव भिगो रही थी वह मही॥

कारागृह के कक्षान्तर में, जब कि भुवन भर सोरहा,
वातायन पर वक्ष टेक नत खड़ा कौन वह रो रहा?

सुना अभागे ने रमणी का करुणा पूर्ण विलाप है,
हृदय विदीर्ण हुआ पद पद पर उमड़ा दृग जल आप है।

पद पद पर क्रम क्रम से मानों घटती आई आयु है,
अन्तिम पद पर हुई अन्त में लय सी जीवन-वायु है।

प्रस्तर-प्रतिमा बना अभागा खड़ा निपट निस्पन्द है
अनिश्वास नासा, अपलक दृग, क्या नाड़ी भी बन्द है?

झंझागति से पूर्वस्मृति हा खर धारा सी आ रही,
घटित हुई जो जो घटनाएँ सब को सम्मुख ला रही।

शैशव-सुख, कैशोर-रंग-रस, राज्यलाभ, अन्याय वह,
प्रजा-क्षोभ, रण, हार, पलायन, पकड़ा जाना हाय! वह।

बन्दी बनना, प्रिय पत्नी का आना कारागार में,
एक एक कर सारी बातें आने लगी विचार में।

अन्तिम चिन्ता—दावानल में आँधी का आना यथा,
सिर घूमा, गिर पड़ा अभागा, सह न सका भारी व्यथा
कहाँ कुसुम-कोमल शय्या वह, कहाँ शिला की सेज यह ?
चिन्ता-कुज्झटिका से आवृत हुआ निपट निस्तेज वह ।

कुज्झटिका मय उसी तिमिर में मानस नयनों से अहा ?
देखा दुर्विध ने कि भयानक ज्वाल-जलधि लहरा रहा ।
गर्ज रहा है वह घन-रव से भँवर भरा निस्सीम है,
उछल रहा दिग्व्यापी जिसमें वह्नि-वीचि-दल भीम है

अगणित मनुज पड़े जलते हैं उस नीलानल-जाल में,
नहीं अवधि-गणना है कोई जिनकी तीनों काल में ।
देह-मांस हटता सटता है तप्त तरंगाघात से,
चिल्लाते हैं दग्ध देह जन उस भीषण पविपात से ।

सुन वह हाहाकार देख वह दुरित दृश्य वह ज्वाल यों,
काँप न उठते बेचारे के सिर तक के भी बाल क्यों ?
दुर्विध ने उस अनल-जलधि में गिरते देखा आप को,
कह सकता है कौन हाय ! उस महा तीक्ष्णतर ताप को ।

करते हैं खरदंशन कितने कीट हड्डियों में घुसे,
सभी ओर से ग्रसा गरज कर नीलानल ने है उसे ।
कैसे तरे, भुजाएँ दोनों पावक ने हैं नष्ट कीं,
डूब उठा वह शिथिल शिला सम परिसीमा है कष्ट की,

अकस्मात चिल्लाकर हत विधि हुआ काँप कर उठ खड़ा,
किन्तु देख असिधर यम सम्मुख फिर चिल्ला कर गिर पड़ा!

यही सिराजुद्दौला है क्या, वह नवाब है क्या यही?
सुनकर जिसका नाम वंग में थर्रा उठती थी मही!

जिसका ऐसा उग्र तेज था पड़ा यही क्या है यहाँ?
कहाँ सिराज, तुम्हारा वैभव? सिंहासन, परिजन कहाँ?

राजदण्ड, महिषी-मण्डल वह कहाँ, कहाँ वह साज है?
नीर तुम्हारे नयनों से क्यों बहता अविरल आज है?

यह मुहम्मदी बेग तुम्हारा अनुचर जो विख्यात है,
इसके पैरों पड़ते हो तुम कहो, कौन सी बात है?

दो दिन पहले जिस अनुचर की ओर देखना भी न था,
आज उसी से जीवन-भिक्षा! क्या कहिए विधि की कथा

शत शत नर जिसके पैरों में रोते थे आकृष्ट हो,
अनुचर-चरणों में रोता है वही, धन्य दुरदृष्ट को।

सीखी न थी, न दी थी जिसने क्षमा किसी को भूल से
माँग रहा है आज उसे ही वह अपने प्रतिकूल से!

क्या ही विस्मय पूर्ण विलक्षण विधि का अटल विधान है,
जिसका जैसा दान जगत में वैसा ही प्रतिदान है!

अत्याचारी युवक अभागे, तेरी विनती व्यर्थ है,
विधि विपरीत कार्य्य करने में होता कौन समर्थ है?

पैरों पड़ या हाथ जोड़ तू, यह बस निष्फल जायगा,
जैसा-कर्म्म बीज बोया है वैसा ही फल पायगा।
इन्द्रिय-सुख के लिए कौन सा पाप न तू करता रहा?
कितने स्त्री पुरुषों का शोणित तेरे हाथों से बहा?

तू अपने को था औरों का भाग्य-विधाता मानता,
अपना भाग्य किन्तु ऐसा है, इसे तू न था जानता।

रे निष्ठुर, कृतघ्न, किंकर, हा! तू यह क्या करने चला,
कह, नवाब का वध करने को उद्यत है तू क्यों भला?

मरता है जो स्वयं मारने से उसको क्या? शान्त हो,
निज अनुतापों से मरता है, मार न उसको, शान्त हो।

ठहर, ठहर, यह पाप न कर तू, करता है कुविचार क्यों?
अरे, आप ही आप मरे के ऊपर असि-प्रहार क्यों?

शृंगच्युत हो शिलाखण्ड जो गिर कर नीचे आ रहा,
फिर उस पर प्रहार क्यों? वह तो आप लुड़कता जा रहा।

पद-भ्रष्ट नक्षत्र तुल्य हतभाग्य पतित है सर्वथा,
उसे मारना वृथा, रहे वह गत गौरव का ध्वज यथा।

खोकर निज सम्मान, राज्य, धन, सिंहासन संसार में,
अपना जीवन शेष अभागा काटे कारागार में।

निशा गभीर, गभीर प्रकृति है, विश्व चराचर शान्त है,
कृष्ण पक्ष का निविड़ नैश तम हुआ गभीर नितान्त है।

माँ वसुन्धरे, हिंस्र जन्तु भी निद्रित हैं इस रात में,
मनुज-पाप-लिप्सा लगती है हा ! अब भी अपघात में।

वीर भूमि, क्या देख रही हो ? जाओ अब पाताल तुम,
न लो, न लो, अपने माथे पर यह कलंक विकराल तुम।

क्या करता है, क्या करता है, रह रे किंकर क्रूर तू ?
तोल तीक्ष्ण तलवार न सहसा, इसे फेंक दे दूर तू।

ठहर क्षमा कर, ठहर क्षमाकर, मान, न यों हठ ठान तू,
नरक घटित होगा यवनों का इस अघ से सच जान तू।

दुर्बल दीपक के प्रकाश में दमक उठी असि, जब गिरी-
भू पर गिरा सिराज-शीश कट और रुधिर धारा फिरी।

बुझा इसी क्षण घर का दीपक जो प्रकाश था सो गया,
भारत की अन्तिम आशा का अन्त अचानक हो गया।

